भाषा-विज्ञान

डॉ० राजदेव मिश्र

भाषा-विज्ञान

लेखक
डॉ० राजदेव मिश्र
पूर्व कुलपति
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

शारदा प्रकाशन
नियाँवा रोड, फैजाबाद

प्रकाशक :
शारदा प्रकाशन
आलोकपुरी, न्यू कालोनी
नियाँवा रोड, फैजाबाद
फोन : 220233

संस्करण, 2006

मूल्य : रु0 100.00 मात्र

मुद्रक :
सीमा प्रेस
ईश्वरगंगी, वाराणसी
फोन न0 : 2211092

पूरोवाक्

शिक्षा-जगत् में व्याकरण की महनीयता को सुदीर्घ काल से स्वीकार किया गया है परन्तु आज के वैज्ञानिक युग में भाषा-विज्ञान की महत्ता सर्वस्वीकार्य बनकर पराकाष्ठा को प्राप्त है। भाषा-विज्ञान के जिज्ञासुओं एवं अध्येताओं के बार-बार के अनुरोध को दृष्टिगत कर इस ग्रन्थ के प्रणयन में प्रवृत्त होना पड़ा। वस्तुतः जिज्ञासु पाठकों, विशेषतः स्नातक-स्नातकोत्तर छात्रों एवं उच्च स्तरीय प्रतियोगात्मक परीक्षाओं के परीक्षार्थियों की सुविधा के लिये इस संस्करण को तैयार किया गया है। इसमें प्रायः अपेक्षित अधिकांश विषयों का समावेश है। आशा है यह संस्करण उपयोगी होगा।

इस संस्करण की पाण्डुलिपि को तैयार करने तथा प्रूफ-संशोधन में कु0 रंजना त्रिपाठी (शोध-छात्रा), श्रीमती स्मृति चौबे (शोध-छात्रा), श्रीमती किरन राय (शोध-छात्रा) पौत्रीकल्पा, श्री राजदेव मिश्र (शोध-छात्र), कु0 उषा तथा पौत्रकल्प श्री कृष्ण कुमार का प्रयास श्लाध्य रहा है। अतः वे सभी आशीर्वाद एवं धन्यवाद के पात्र हैं। मुद्रण में डॉ0 दर्शनानन्द की धन्यवादपात्रता भी अविस्मरणीय है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के विषय में किसी भी उपयोगी सुझाव का स्वागत होगा।

कार्तिकी पूर्णिमा
विक्रम सं0 2063
5 नवम्बर 2006

– राजदेव मिश्र

विषयानुक्रम

पृष्ठ

1. **प्रथम अध्याय : भाषा की परिभाषा तथा भाषा और बोली मे अन्तर** 1-18

भाषा की परिभाषा, भाषा की व्युत्पत्ति एवं अर्थ, शब्द का स्वरूप, शब्द का महत्त्व, पाश्चात्त्य विद्वानों द्वारा प्रस्तुत भाषा की परिभाषायें, भारतीय विद्वानों द्वारा प्रस्तुत भाषा की परिभाषाय़ें, निष्कर्ष, भाषा के तत्त्व। **भाषा के विविध रूप, भाषा और बोली में अन्तर,** भाषा की विशेषतायें।

2. **द्वितीय अध्याय : उत्त्पति के सिद्धान्त** 19-33

प्रत्यक्ष मार्ग-1. दैवी-उत्पत्तिवाद या दिव्योत्पत्ति सिद्धान्त, 2. साङ्केतिक उत्पत्तिवाद-निर्णय सिद्धान्त, 3. धातु सिद्धान्त, 4. अनुरणनमूलकतावाद-रणन-सिद्धान्त, 5. मनोभावाभिव्यञ्जकतावाद 6. अनुकरणमूलकतावाद, 7. श्रमपरिहरणमूलकतावाद, 8. प्रतीकवाद या इङ्गित सिद्धान्त, 9. समन्वित विकासवाद का सिद्धान्त, **परोक्ष मार्ग–**1. बच्चों की भाषा, 2. प्राचीन असभ्य जातियों की भाषा, 3. भाषाओं का ऐतिहासिक अध्ययन।

3. **तृतीय अध्याय : भाषा-विज्ञान एवं व्याकरण का सम्बन्ध** 34-49

'भाषा-विज्ञान' शब्द की व्युत्पत्ति एवं अर्थ, भाषा-विज्ञान का नामकरण, भाषा (भाषा-विज्ञान) के अध्ययन की भारतीय परम्परा, भाषा-विज्ञान की परिभाषा, भाषा-विज्ञान के अङ्ग, भाषा-विज्ञान की शाखायें, भाषा-विज्ञान की धारणायें, भाषा-विज्ञान का अन्य विज्ञानों, शास्त्रों-विषयों से सम्बन्ध, भाषा-विज्ञान एवं व्याकरण का सम्बन्ध, दोनों में समानतायें एवं परस्पराश्रयता, दोनों में अन्तर, व्याकरणेतर शास्त्रों का सम्बन्ध।

4. **चतुर्थ अध्याय : वैदिक संस्कृत (भाषा) एवं लौकिक संस्कृत में अन्तर** 50-64

वैदिक भाषा एवं लौकिक संस्कृत में विरचित साहित्य, दोनों भाषाओं की ध्वन्यात्मक विशेषतायें—स्वरगत विभिन्नता, व्यञ्जनगत विभिन्नता, सन्धिगत विभिन्नता, शब्दरूपगत विभिन्नता, सर्वनामगत विभिन्नता, धातुरूपात विभिन्नता, उपसर्ग, लकार, लेट् लकार, कृदन्तगत विभिन्नता, तुमुन्, प्रत्यय के अर्थ में प्रत्यय।

5. **पंचम अध्याय : ध्वनि-विज्ञान, ध्वनिवर्गीकरण के सिद्धान्त, स्वर-व्यंजन तथा ध्वनि परिवर्तन : कारण एवं दिशायें** 65-93

ध्वनि विज्ञान की उपयोगिता, ध्वनि शब्द की व्युत्पत्ति एवं अर्थ, ध्वनि-भाषा-ध्वनि, ध्वनिग्राम, ध्वनि-विज्ञान में तीन बातों की मुख्यता-विश्लेषण, वर्णन एवं वर्गीकरण, **ध्वनि वर्गीकरण के सिद्धान्त (आधार),** ध्वनि वर्गीकरण के मुख्य आधार-स्थान, प्रयत्न-आभ्यन्तर-प्रयत्न, वाह्य प्रयत्न। **स्वर तथा व्यञ्जन-**संस्कृत वर्णमाला, स्वर शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ, स्वर की परिभाषा, विशेषता, व्यञ्जन की विशेषता, स्वर तथा व्यञ्जन में अन्तर स्वरों के भेद, व्यञ्जन के भेद।

6. **षष्ठ अध्याय : अक्षर, बालाघात एवं लय** 94-103

अक्षर की विशेषता, मुखरता के आधार पर ध्वनियों के भेद, अक्षर के भेद, **बलाघात–**आघात, बलाघात, बलाघात, के भेद, स्वराघात, बलाघात और मात्रा, प्रभाव, **लय–**लय शब्द की व्युत्पत्ति एवं अर्थ, लय की परिभाषा।

7. **सप्तम अध्याय : विश्वभाषाओं का वर्गीकरण, वर्गीकरण के आधार, पारिवारिक (ऐतिहासिक) वर्गीकरण, भारोपीय भाषा परिवार, भारतीय आर्य भाषायें** 104-142

वर्गीकरण का उद्देश्य एवं उपयोगिता, भाषाओं की संख्या, वर्गीकरण के आधार, **आकृतिमूलक** और **पारिवारिक (ऐतिहासिक)** वर्गीकरण में अंतर, भाषा-परिवार की संख्या, परिवारिक वर्गीकरण के आधार, पारिवारिक वर्गीकरण की न्यूनता, उपयोगिता, **चार भाषा भूखण्ड**-यूरेशिया-भूखण्ड, अफ्रीका-भूखण्ड, 3 प्रशान्त महासागीरय भूखण्ड, 4. अमेरिका-भूखण्ड **भारोपिय भाषा परिवार- भारोपीय भाषा परिवार का महत्त्व,** भारोपीय भाषा परिवार के अनेक नाम, भारोपीय भाषा परिवार की भाषाओं की प्रमुख विशेषतायें, भारोपीय भाषा परिवार की शाखायें, भारतीय कार्य भाषा, प्राचीन भारतीय आर्य भाषा, वैदिक संस्कृत, वैदिक भाषा की विशेषतायें, लौकिक संस्कृत, संस्कृत भाषा की रूप रचना, संस्कृत भाषा की विशेषतायें, **पालि की व्युत्पत्ति,** क्षेत्र, विशेषतायें, ध्वनि सम्बन्धी विशेषतायें, आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का संक्षिप्त परिचय, विशेषतायें।

प्रथम अध्याय

भाषा

भाषा की व्युत्पत्ति एवं अर्थ–'भाषा' शब्द भ्वादि गण की (स्पष्ट बोलना) (व्यक्तायां वाचि)—इस अर्थ वाली 'भाष्' धातु से 'भाष्यते' इस अर्थ में 'गुरोश्च हलः' सूत्र से 'अ' प्रत्यय और स्त्रीलिङ्ग में 'टाप्' प्रत्यय लगाकर निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है—स्पष्ट वाणी। 'अमरकोष' के अनुसार ब्रह्म की अधिष्ठात्री देवी के सात नाम हैं—

'ब्राह्मी', 'भारती', 'भाषा', 'गी' = (गिर्), 'वाक्' = (वाच्) 'वाणी', सरस्वती (अमरकोष 1/6/1)। इनमें 'भाषा' भी है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि उक्त सभी नाम परस्पर पर्यायवाची हैं।

अन्य कोष-ग्रन्थों के अनुसार 'भाषा' के अनेक अर्थ होते हैं—1. वक्ता, बात; जैसे—चारुभाष (सुन्दर बोलने वाला)। इस शब्द में 'भाषा' शब्द बात के अर्थ में प्रयुक्त है। 2. बोली—जबान, 3. सामान्य या देहाती बोली, (क) बोली जाने वाली संस्कृत-भाषा (छान्दस् वैदिक, जैसे- 'विभाषा भाषायाम्')। (ख) कोई प्राकृत बोली, 4. परिभाषा-वर्णन, जैसे—'स्थितप्रज्ञस्य का भाषा' (श्रीमद्भगवद्गीता)। 5. वाणी की देवी, 6. (विधि में) अभियोग की चार अवस्थाओं में से पहली शिकायत।

'भाषा' की उपर्युक्त व्युत्पत्ति से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि स्पष्ट बोलने वाली 'भाष' धातु से निष्पन्न 'भाषा' शब्द हाथ, आँख, पैर आदि के उन इङ्गितों- सङ्केतों को अपने अर्थ की परिधि में परिगृहीत नहीं करता, जो किसी न किसी भाव की अभिव्यक्ति करते हैं। उसके अर्थ की सीमा में न तो वे ध्वनियाँ ही आती हैं, जो निरर्थक होती हैं; अपितु शरीर के मुख आदि अवयवों से उच्चरित वे सार्थक ध्वनियाँ ही आती हैं, जिनके उच्चारण से किसी अर्थ की प्रतीति होती है अथवा जो वक्ता के भाव अथवा विचार को व्यक्त करती हैं।

भाषा के विश्लेषण के प्रसङ्ग में जिनका विचार अनायास ही विचार-पथ पर आ जाता है, वे हैं—ध्वनि, वर्ण, शब्द, पद, वाक्य आदि। इनमें 'शब्द' एक ऐसा 'शब्द' है, जिसके विचार में ध्वनि, वर्ण आदि भी आ जाते हैं।

शब्द-स्वरूप–'शब्दयते' इति शब्दः—'शब्द' धातु से 'घञ्' प्रत्यय लगाकर 'शब्द' यह शब्द व्युत्पन्न होता है। व्युत्पत्ति के आधार पर 'शब्द' का शाब्दिक अर्थ ध्वनि, आवाज है। इसके चार विषय होते हैं—(1) जातिवाचक गौ आदि, (2) गुण-शब्द—शुक्ल, पीत आदि, (3) क्रिया-शब्द—पाचक आदि, (4) यदृच्छा-शब्द—अर्थशून्य; व्यक्तिवाचक—डित्थ, डवित्थ आदि।

अति प्राचीन काल से वह (शब्द) मनीषियों के विचारपथ पर आता रहा है और

उसका व्यापक रूप में प्रयोग भी हुआ है। वह शब्द दो प्रकार का होता है— 1. वर्णात्मक, 2. ध्वन्यात्मक (मात्र)—**द्विविधश्चायं शब्दो वर्णात्मको ध्वन्यात्मकश्च**। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी ध्वनिमात्र को शब्द कहा है—**तस्माद् ध्वनिः शब्दः**—महा0।

सामान्यतः 'शब्द' कहने से शब्दमात्र (ध्वनिरूप, वर्णरूप) का बोध होता है। भाषा के प्रसङ्ग में जिस शब्द के स्वरूप का विवेचन अभीष्ट है, वह ध्वनिमात्र (कोरी आवाज) नहीं है; अपितु वह वर्णात्मक ध्वनिरूप शब्द है। व्यवहार में भी 'शब्द' के कथन से वर्णात्मक ध्वनि-समूह का ही बोध होता है। अंग्रेजी का वर्ड (Word) शब्द भी इसी अर्थ की ओर सङ्केत करता है।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि वर्णसमूहमात्र ही 'शब्द' नहीं कहलाता; अपितु 'शब्द' वह ध्वनिसमुदाय है, जिससे अर्थ की प्रतीति होती है। महाभाष्यकार का कहना है—

येनोच्चरितेन सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाणिनां संप्रत्ययो भवति स शब्दः। अथवा प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्दः। तस्माद् ध्वनिः शब्दः। (महा0—पस्पशाह्निक)।

वस्तुतः 'शब्द' की शब्दता के लिये उससे अर्थ की प्रतीति होना आवश्यक है।

वैयाकरण कैयट ने भी अर्थ के ज्ञान कराने वाले को शब्द कहा है—**सर्वार्थप्रत्यायनशक्तियुक्तो हि शब्दः।**

आचार्य भामह ने भी अकारादि वर्ण-समुदाय को 'शब्द' कहा है; जिससे अर्थ की प्रतीति होती है—नन्वकारादिवर्णानां समुदायोऽभिधेयवान् ।

अर्थप्रतीतये गीतः शब्द इत्यभिधीयते ।।—काव्यालङ्कार।

भारतीय विद्वानों की भाँति पाश्चात्य विद्वानों ने भी शब्द के स्वरूप पर विचार किया है।

वस्तुतः ध्वनिसामान्य को शब्द कहा जाता है, परन्तु भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से सार्थक ध्वनिसमूह ही शब्द माना जाता है। अर्थवाचक शब्द भी दो प्रकार का होता है। शब्द की इसी विशेषता के कारण न्यायदर्शन में शब्द को वर्णात्मक तथा ध्वन्यात्मक कहा गया है—

शब्दो ध्वनिश्च वर्णश्च मृदङ्गादिभवो ध्वनिः।

यद्यपि अव्यक्त ध्वनिमात्र तथा व्यक्त (वर्णात्मक) दोनों प्रकार के शब्द लोक में दिखायी देते हैं तथा पाणिनि आदि के द्वारा स्वीकृत भी हैं तथापि भाषात्मक लोकोपयोगी 'व्यक्त' ही हैं, अव्यक्त नहीं।

शब्द का महत्त्व—वस्तुतः भाषाशास्त्र तथा भाषाविज्ञान के क्षेत्र में हम 'भाषा' इस शब्द से जो अभिप्राय लेते हैं, उसके मूल में शब्द हैं। शब्द ही भाषा की मूल भित्ति हैं तथा उन्हीं के आधार पर निर्मित वाक्यों द्वारा हम दूसरे का अभिप्राय जानते हैं और अपने

अभिप्राय को प्रकट करते हैं। भारत में शब्द को ब्रह्म मानकर उसकी व्याख्या की गयी है। भर्तृहरि के अधोलिखित कथन—

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।। —वाक्यपदीय

में इसी तथ्य का प्रकाशन किया गया है। जहाँ तक भाषा के महत्त्व, जीवन में उसकी उपयोगिता और लोक-व्यवहार में उसकी अपरिहार्य आवश्यकता का प्रश्न है, उसके विषय में यदि हम आचार्य दण्डी की निम्नाङ्कित उक्ति को दृष्टिगत कर लें तो शब्द (भाषा) के महत्त्वातिशय का स्पष्ट बोध हो जायेगा—

इदमन्धतमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम् ।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते ।। —काव्यादर्श 1/4

अर्थात् शब्द-ज्योति के अभाव में यह सारा संसार अज्ञान के अन्धकार में डूब जायेगा। उसकी प्रकाशमयता (ज्ञानमयता) वस्तुतः शब्द-ज्योति के ही कारण है। दण्डी का तो यह कहना भी सर्वांशतः सत्य है कि वाणी (वाग्देवी) की कृपा से ही लोकयात्रा (लोकव्यवहार) सम्भव है—

वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते।। —वही 1/3

संस्कृत में अपद के प्रयोग का निषेध किया गया है। पद एक पारिभाषिक शब्द है; अतः उस पर विचार आवश्यक है। इस सन्दर्भ में पद, वर्ण (अक्षर) आदि के स्वरूप पर भी थोड़ा विचार कर लेना अप्रासङ्गिक नहीं होगा।

पद–भाषा परस्पर सम्बद्ध वाक्यों का समूह होती है। वस्तुतः वाक्य ही भाषा के आधार होते हैं। वाक्य में अनेक पद होते हैं। पाणिनि-व्याकरण के अनुसार सुबन्त और तिङन्त शब्द को पद कहते हैं। कारक की समस्त विभक्तियों को 'सुप्' तथा क्रिया की सभी विभक्तियों को 'तिङ्' कहा जाता है। सुप् जिसके अन्त में हो, वह 'सुबन्त' (पद) कहलाता है; जैसे—रामः, पुस्तकस्य, गामेषु आदि। इसी प्रकार 'तिङ्' जिसके अन्त में हो, वह 'तिङन्त' (पद) कहलाता है। जैसे—भवति, गच्छति, लभते आदि। इन्हीं (सुबन्त तथा तिङन्त) पदों के समूह अथवा कारक से अन्वित क्रिया को वाक्य कहते हैं—

सुप्तिङन्तचयो वाक्यम्।

'सुबन्त'-पद 'कारक' तथा तिङन्त-पद 'क्रिया' भी कहे जाते हैं। अव्यय भी सुबन्त पद के ही अन्तर्गत माने जाते हैं। 'रामः पुस्तकं पठति' इस वाक्य में रामः (कर्ता) तथा पुस्तकम् (कर्म)—ये दोनों सुबन्त पद हैं तथा 'पठति' तिङन्त पद है। दूसरे शब्दों में 'रामः' तथा 'पुस्तकम्' ये दोनों कारक (सुबन्त) तथा 'पठति' यह क्रिया (तिङन्त) है। प्रत्येक पद

(शब्द) में कई वर्ण अथवा अक्षर होते हैं। जैसे–'भवति' इस पद में—भ्, अ, व्, अ, त्, इ—ये छः वर्ण हैं।

वर्ण की परिभाषा–'वर्ण वर्णने' धातु से 'घञ्' प्रत्यय करने पर 'वर्ण' शब्द की निष्पत्ति होती है। संस्कृत-साहित्य में 'वर्ण' शब्द का प्रयोग कई अर्थों में हुआ है। किन्तु यहाँ 'वर्ण' शब्द पारिभाषिक है। जो वर्णित होते हैं, स्पष्ट रूप से ध्वनित (उच्चरित) होते हैं; वे अकारादि वर्ण कहलाते हैं—

वर्ण्यन्ते व्यक्तं ध्वन्यन्ते इति वर्णा अकारादयः—तैत्तिरीयप्रातिशाख्य का वैदिकाभरणभाष्य।

सम्भवतः वर्ण्यता के कारण ही इन्हें वर्ण कहा जाता है। भाषा को मूर्तिमान् तथा जीवन्त रूप देने वाले 'वर्ण' ही हैं; क्योंकि वर्णों के माध्यम से ही वाणी व्यक्त होकर भाषा का स्वरूप ग्रहण करती है। वर्ण को अक्षर भी कहा जाता है। 'क्षर् सञ्चलने' धातु से 'अच्' प्रत्यय लगाने पर 'क्षर' शब्द बनता है, जिसका अर्थ होता है—'विनश्वर'। जो विनश्वर (क्षीण) न हो, वही अक्षर है—

अक्षरं न क्षरं विद्यात्। न क्षीयते न क्षरतीति वाऽक्षरम्। —महा०

भाषा की परिभाषा–भाषा एक ऐसा विषय है, जिस पर अपने देश तथा विदेश के विद्वानों (भाषाविदों) ने विचार किया है। इस विषय का जितना ऊहापोह संसार में हुआ है, वह आश्चर्यकर है। उन्होंने भाषा की परिभाषा (लक्षण) पर भी गम्भीर चिन्तन कर निष्कर्ष निकलने का प्रयास किया है। विद्वानों के द्वारा प्रस्तुत विभिन्न परिभाषाओं पर विचार करने के पूर्व निम्नाङ्कित विचार को व्यक्त करना आवश्यक है—

संसार में किसी विषय पर अधिक से अधिक बोला या लिखा जा सकता है, परन्तु विषय को सर्वांशतः स्पष्ट करने के लिये परस्पर सम्बद्ध कथ्य कठिन होता है। माघ ने कहा भी है—

बह्वपि स्वेच्छया कामं प्रकीर्णमभिधीयते।

अनुज्झितार्थसम्बन्धः प्रबन्धो दुरुदाहरः॥ —शिशुपालवध

अर्थात् 'मनुष्य किसी विषय पर स्वेच्छा से बहुत-कुछ कह सकता है, परन्तु विषय पर ऐसा प्रबन्ध (वक्तव्य, कथन) अत्यन्त कठिन ही होता है, जो प्रतिपाद्य विषय से सर्वथा सम्बन्धित हो।'

उक्त कथन किसी वस्तु की परिभाषा अथवा लक्षण के विषय में भी लागू होता है। किसी विषय पर स्वेच्छया लम्बा वक्तव्य दिया जा सकता है, परन्तु उसको पारिभाषित अथवा लक्षित करने में कठिनाई होती है। शास्त्रकारों ने परिभाषा अथवा लक्षण के विषय में तीन दोषों से बचने को आवश्यक माना है। वे तीन दोष हैं—(1) अव्याप्ति, (2) अतिव्याप्ति, (3) असम्भव। न्यायशास्त्र के अनुसार शुद्ध लक्षण अथवा परिभाषा वही है,

जो उक्त प्रकार के तीन दोषों से रहित हो—

तदेव हि लक्षणं यदव्याप्ति-अतिव्याप्ति-असम्भवरूप-दोषत्रयशून्यम् ।

(1) **अव्याप्ति**–लक्षण (परिभाषा) में 'अव्याप्ति' दोष वह होता है, जब लक्षण (परिभाषा) लक्ष्य में लागू न हो। जैसे कोई गाय की यह परिभाषा दे कि 'चार पैरों वाला काला जानवर गाय कहलाता है।' गाय का यह लक्षण अव्याप्ति दोष से इसलिये ग्रस्त है, क्योंकि उससे हजारों गायें गृहीत नहीं होतीं, क्योंकि संसार में सभी गायें काली नहीं होती।

(2) **अतिव्याप्ति**–'अतिव्याप्ति' का अर्थ यह है कि जितने पर परिभाषा अथवा लक्षण को लागू होना चाहिये, उतने से अधिक पर लागू हो जाय। जैसे कोई मनुष्य का यह लक्षण दे कि 'दो नेत्रों वाला प्राणी मनुष्य कहलाता है' तो यह परिभाषा (लक्षण) अतिव्याप्ति दोष से ग्रस्त होने के कारण ठीक नहीं है। क्योंकि इस लक्षण से मनुष्य से भिन्न प्राणी भी गृहीत हो जाते हैं। क्योंकि प्रायः सभी प्राणी दो नेत्रों वाले होते हैं।

(3) **असम्भव**–'असम्भव' दोष वहाँ होता है, जब लक्षण (परिभाषा) किसी भी लक्ष्य में घटित ही न हो। जैसे—'मनुष्य वह है, जिसके हजारों हाथ-पैर हों।' मनुष्य के इस लक्षण (परिभाषा) का किसी मनुष्य में घटना असम्भव ही है। अतः असम्भव दोष से ग्रस्त होने के कारण यह लक्षण (परिभाषा) भी ठीक नहीं है। इस प्रकार उक्त तीनों दोषों से बचकर किसी वस्तु की परिभाषा (लक्षण) को प्रस्तुत करना बहुत दुःसाध्य कार्य है।

भाषा की परिभाषा भी उक्त कठिनाई का अपवाद नहीं है।

किसी वस्तु अथवा विषय की परिभाषा अथवा लक्षण की प्रस्तुति में उक्त कठिनाई विद्यमान है और उक्त कठिनाई में वास्तविकता भी है। इस सन्दर्भ में भारतीय-अभारतीय सभी विद्वानों ने यथेष्ट प्रयास किया है। परिभाषा अथवा लक्षण को दोष-रहित बनाने के लिये उपर्युक्त तीन दोषों से उसका (परिभाषा या लक्षण का) रहित होना आवश्यक ही नहीं; अनिवार्य भी है।

विदेशी (पाश्चात्य) विद्वानों की परिभाषायें–सबसे पहले भाषा की परिभाषा के विषय में विदेशी दिद्वानों के तद्गत मतों को जानना आवश्यक है। इसलिये उनके मत को प्रस्तुत किया जा रहा है—

(1) ब्लाक तथा ट्रेगर के अनुसार—'भाषा यादृच्छिक ध्वनि-चिह्नों की व्यवस्था है, जिसके माध्यम से समाज के समूह (Group) सहयोग करते हैं।'

A Language is a system of arlistrary vocal symbals by means of which a society group cooperates.

(2) स्तुर्तेवाँ की भाषा-सम्बन्धी परिभाषा भी ब्लाक तथा ट्रेगर के समान ही है। उनके

अनुसार 'भाषा यादृच्छिक ध्वनिचिह्नों की व्यवस्था है; जिसके द्वारा सामाजिक समूह के व्यक्ति सहयोग एवं सम्पर्क करते हैं।'

A Language is a social group cooperate and interact.

(3) ग्लीसन के अनुसार—'भाषा वाणी का वह रूप है, जिसकी सम्यक् व्याख्या की जा सकती है.........' 'विचार विनिमय का वह रूप जो सर्वत्र एक जैसा लिखा जाता है।'
—(एन इन्ट्रोडक्शन टु डिस्क्रिप्टिव लिंग्विस्टिक्स)

(4) एडवर्ड सपरि के अनुसार—'भाषा विचारों, भावों और इच्छाओं को दूसरों तक पहुँचाने का ऐसा विशुद्ध मानवीय तथा अनैसर्गिक साधन है, जिसका प्रयोग इच्छानुकूल प्रतीकों की क्रमबद्ध व्यवस्था द्वारा करते हैं। ये प्रतीक श्रव्य हुआ करते हैं तथा उच्चारणोपयोगी अवयवों द्वारा प्रस्तुत किये जाते हैं............वस्तुतः इन प्रतीकों की इच्छानुकूल क्रम-व्यवस्था के स्वरूप और कार्य को समझना ही भाषा है। मूल रूप में भाषा प्रतीकों की ही श्रव्य प्रणाली है। विचार-विनिमय, जो कि वाणी का मुख्य उद्देश्य है, पूर्ण रूप से तभी सफल होता है जब श्रोता की श्रव्येन्द्रियाँ उसे यथार्थतः ग्रहण कर लें।'
—(लैंग्वेज : एन इन्ट्रोक्शन टु दि स्टडी आफ स्पीच)

(5) वेन्द्रिये—वेन्द्रिये के द्वारा भाषा की परिभाषा यों प्रस्तुत की गयी है—

भाषा चिह्नों की एक क्रमबद्ध व्यवस्था है। इसलिये भाषा के मूल रूप का अध्ययन इस तथ्य का द्योतक है कि हम मनुष्य के पास उपलब्ध विशेष चिह्नों की खोज करें और साथ ही उस पद्धति का अवलोकन करें, जिनके सहारे इन चिह्नों का प्रयोग किया गया। चिह्नों से हमारा तात्पर्य उन सभी प्रतीकों से है, जो मानव-मानव के बीच विचारों के स्पष्टीकरण का माध्यम बनते हैं। चूँकि चिह्न कई प्रकार के हैं; अतः भाषायें भी अनेक प्रकार की हो सकती हैं।

—लैंग्वेज : ऐ लिंग्विस्टिक इन्ट्रोडक्शन टु हिस्ट्री'

(6) ए. ए. गार्डीनर (A. A. Gordinor)—ने भाषा की परिभाषा करते हुये भाषा को विचारों की अभिव्यक्ति के लिये व्यक्त ध्वनि-सङ्केत कहा है—

'The Common definition of speech is the use of articulate sound-symbale for the expression of thougth.'

यह परिभाषा भी कुछ हद तक ही भाषा के स्वरूप को स्पष्ट करती है।

(7) हेनरी स्वीट (Henry Sweet)—ने अपनी पुस्तक 'The History of Language' में भाषा की परिभाषा इस प्रकार की है—

'व्यक्त-ध्वनियों द्वारा विचारों की अभिव्यक्ति को 'भाषा' कहते हैं'—

'Language may be defined as the expression of thought by menas of speech-sounds.'

स्वीट द्वारा प्रस्तुत की गयी भाषा की परिभाषा यथेष्ट सीमा में ठीक है।

(8) प्लेटो—प्लेटो ने भाषा की परिभाषा इस प्रकार की है—

'विचार जब ध्वन्यात्मक होकर होठों पर प्रकट होते हैं, तो उसे भाषा कहते हैं।

वान्द्रिये के अनुसार—'भाषा' चिह्न है, जिसके द्वारा मनुष्य अपने भाव प्रकट करता है।'

आचार्य प्लेटो द्वारा मान्य 'भाषा' की परिभाषा यद्यपि ठीक है, परन्तु वह भाषा के परिपूर्ण रूप को प्रकाश में लाने में असमर्थ है। जहाँ तक वान्द्रिये के भाषा-विमर्श का प्रश्न है, वह अधूरा है।

भारतीय भाषाविदों द्वारा प्रस्तुत की गयी भाषा की परिभाषायें

पाश्चात्य विद्वानों की भाँति अनेक भाषाविद् भारतीय विद्वानों के द्वारा भी भाषा की परिभाषा प्रस्तुत की गयी है। सम्प्रति यहाँ भाषा की परिभाषा से सम्बन्धित उनके विचार प्रकाश में लाये जा रहे हैं—

(1) डॉ० पी०डी० गुणे—प्रसिद्ध भारतीय भाषाविद् श्री गुणे ने भाषा की परिभाषा इस प्रकार की है—

'Language in its widest sense menas the sum-total of such signs of over thoughts and feelings as are capalele of external perception and as could be produced and replated at will.'—Comparative philology.

अर्थात् 'अपने व्यापकतम रूप में भाषा का अर्थ है—हमारे विचारों और मनोभावों को व्यक्त करने वाले ऐसे संकेतों का कुल योग, जो देखे या सुने जा सकें और जो इच्छानुसार उत्पन्न किये एवं दोहराये जा सकें।'

—उपर्युक्त का डॉ० भोलानाथ तिवारी-कृत हिन्दी अनुवाद।

प्रसिद्ध भाषाविद् डॉ० पी०डी०गुणे द्वारा उपस्थापित उपर्युक्त भाषा-परिभाषा यथेष्ट सीमा तक भाषा के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास करती है।

(2) डॉ० मङ्गलदेव शास्त्री—'भाषा मनुष्यों की उस चेष्टा या व्यापार को कहते हैं, जिससे मनुष्य अपने उच्चारणोपयोगी शरीरावयवों से उच्चारण किये गये वर्णात्मक या व्यक्त शब्दों के द्वारा अपने विचारों को प्रकट करते हैं।'

डॉ० शास्त्री जी द्वारा प्रकाश में लायी गयी यह परिभाषा (लक्षण) महत्त्वपूर्ण है। इस लक्षण के द्वारा मनुष्यों के भावों और विचारों को प्रकट करने में हस्तादि द्वारा सङ्केत और मुखाकृति की विकृति जैसे अन्यान्य साधन भाषा नहीं कहे जा सकते। इन साधनों की इस

लक्षण से व्यावृत्ति हो जाती है। इसी प्रकार विभिन्न स्थितियों में निकलने वाली अव्यक्त और अपरिस्फुट ध्वनियाँ भी 'भाषा' के अन्तर्गत परिगृहीत नहीं होंगी।

संस्कृत में 'ध्वनि' शब्द का व्यवहार प्रायशः अव्यक्त शब्द के लिये ही होता है—

शब्दो ध्वनिश्च वर्णश्च मृदङ्गादिभवो ध्वनिः।

'भाषा विज्ञान'—डॉ0 मङ्गलदेव शास्त्री, पृ0 18

हिन्दी के भी अनेक भाषाविद् विद्वानों ने अपने-अपने मतानुसार 'भाषा' को पारिभाषित किया है। यहाँ संक्षेप में उनके मत को प्रस्तुत किया जा रहा है—

(3) आचार्य किशोरी दास वाजपेयी—'विभिन्न अर्थों में संकेतित शब्द-समूह ही भाषा है, जिसके द्वारा हम अपने विचार या मनोभाव दूसरों के प्रति बहुत सरलता से प्रकट करते हैं।'

'भारतीय भाषा विज्ञान'—लेखक आचार्य वाजपेयी

इस परिभाषा का सार यह है कि आचार्य वाजपेयी की यह परिभाषा 'भाषा' शब्द को पारिभाषित करने में सर्वथा समर्थ है। प्रत्येक शब्द का अर्थविशेष में सङ्केत होता है; अतः वह (शब्द) सङ्केतित अर्थ को ही प्रकट करता है।

(4) डॉ0 बाबू राम सक्सेना जी ने 'भाषा' की परिभाषा इस प्रकार प्रस्तुत की है— 'जिन ध्वनि-चिह्नों द्वारा मनुष्य परस्पर विचार-विनिमय करता है, उनको समष्टि रूप से भाषा कहते हैं।'

'सामान्य भाषा विज्ञान'—डॉ0 सक्सेना

डॉ0 सक्सेना द्वारा प्रस्तुत भाषा की यह परिभाषा अत्यन्त संक्षिप्त है। भाषा के दो रूप होते हैं—लिखित और मौखिक। ध्वनि-चिह्न का प्रयोग लिखित में होता है। उक्त परिभाषा का सर्वाङ्गपूर्ण स्वरूप परिलक्षित नहीं होता।

(5) डॉ0 भोलानाथ तिवारी के अनुसार 'भाषा' की परिभाषा अधोलिखित रूप से दी गयी है—'भाषा उच्चारणावयवों से उच्चरित अध्ययन-विश्लेषणीय यादृच्छिक (Arbitrory) ध्वनि-प्रतीकों की वह व्यवस्था है, जिसके द्वारा एक समाज के लोग आपस में भावों और विचारों का आदान-प्रदान करते हैं।'

'भाषा विज्ञान'—डॉ0 तिवारी

डॉ0 तिवारी जी ने इस परिभाषा के द्वारा 'भाषा' को पारिभाषित करने का सफल प्रयास किया है।

निष्कर्ष–उक्त सभी पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों के द्वारा प्रस्तुत की गयी भाषा की परिभाषाओं का यदि विश्लेषण किया जाय तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि उनमें ऐसी

परिभाषाओं की कमी है, जो सर्वाङ्गपूर्ण हों। कुछ विद्वानों की परिभाषाएँ निःसन्देह समीचीन हैं।

यहाँ यह ध्येय है कि अपने भावों या विचारों को प्रकट करने का साधनमात्र; जैसे—पशु-पक्षियों की ध्वनियाँ, मानवकृत इङ्गित, मुख-विकार, असुर-ध्वनियाँ तथा सार्थक शब्द-समूह आदि सभी को 'भाषा' की परिधि में रखना ठीक नहीं है; क्योंकि सभी के माध्यम से भावों का प्रकाशन होता है। भाषा का व्यापक अर्थ भी वही है; परन्तु भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में 'भाषा' शब्द से सार्थक 'ध्वनिसमूहमात्र' ही गृहीत होता है। मानवीय भाषा और मानवेतर प्राणियों की बोली में अन्तर यही होता है कि मानव की वाणी के पीछे चिन्तन होता है, इसीलिये वह सार्थक होती है। उसका एक निश्चित स्वरूप होता है और उसका अध्ययन, विश्लेषण, चिन्तन आदि किया जाता है। इसके विपरीत मानवेतर प्राणियों (पशु-पक्षियों आदि) की बोली का स्वरूप अस्पष्ट और अनिश्चित होता है, उसका चिन्तन, अध्ययन आदि नहीं किया जा सकता।

मानव संसार का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। उसकी श्रेष्ठता उसकी ज्ञानवत्ता के कारण है और उसके ज्ञान में भी उसकी भाषा (शब्द-सम्पत्ति) कारण है। कहा जाता है कि भावाभिव्यक्ति का साधन भाषा है। परन्तु यहाँ यह भुला दिया जाता है कि अपने भाव अथवा अभिप्राय को व्यक्त करने के जितने साधन हैं, उन सबको 'भाषा' नहीं कहा जा सकता। 'भाषा' शब्द की व्युत्पत्ति में यह स्पष्ट किया गया है कि 'भाषा' इस शब्द की संरचना 'भाष'—इस धातु से होती है, जिसका अर्थ है—स्पष्ट वाणी। ऐसी स्थिति में अभिप्राय व्यक्त करने के प्रत्येक साधन को 'भाषा' कैसे कहा जा सकता है। यह बात पृथक् है कि हम औपचारिक रूप से इङ्गित मुद्रा, मुखविकार आदि सभी अभिप्राय के व्यञ्जक (प्रकाशक) साधनों को 'भाषा' कह देते हैं और इसी सन्दर्भ में 'खग जानै खग ही की भाषा' जानवर की भाषा, पक्षी की भाषा आदि का प्रयोग करते रहते हैं।

ऐसी स्थिति में 'भाषा' को अधोलिखित रूप से पारिभाषित करना समीचीन होगा---

उन समस्त सार्थक ध्वनिसमूह (शब्द-समूह) को भाषा कहा जाना चाहिये, जिनसे मनुष्य अपने भावों अथवा विचारों की अभिव्यक्ति करता है।

भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में भाषा से हमारा मतलब मानवमात्र की भाषा से है, चाहे वह किसी भी देश, जाति आदि की हो। उसकी वाणी में दृष्टिगोचर होने वाली ध्वनियों, शब्दों, वाक्यों आदि में चाहे जितनी विभिन्नता हो, वे भाषा के अन्तर्गत आयेंगी। इसके विपरीत पशु-पक्षियों की ध्वनियाँ, इङ्गित चेष्टा आदि अभिव्यक्ति के साधन इसके अन्तर्गत नहीं आयेंगे।

भाषा के प्रमुख तत्त्व–भाषा की अनेकरूपता और उसकी विभिन्न स्थितियों को ध्यान में रखकर उसके तत्त्वों का विवेचन किया जा सकता है—

1. भाषा के द्वारा उन समस्त ध्वनियों का क्रमबद्ध रूप प्रकट होता है, जो मनुष्यों द्वारा विभिन्न मनःस्थितियों में उत्पन्न की जाती हैं।
2. मनुष्य अपने मुख से जिन ध्वनियों का उच्चारण करता है, उनमें दो बातें होती हैं। एक यह कि वे ध्वनियाँ कुछ वस्तुओं या अनुभवों की प्रतीक होती हैं, दूसरी यह कि उन ध्वनियों के कुछ निश्चित अर्थ होते हैं।
3. भाषा के प्रतीक ध्वनियों की ऐसी समष्टि (समूह) हैं, जिनका उच्चारण मनुष्य के मुख, नासिका आदि के द्वारा होता है। भाषा के लिखित रूप, अक्षर आदि इन्हीं प्रतीकों के प्रकाशक हैं, जिन्हें हम आँखों से देखते हैं।
4. भाषा के प्रतीक इच्छा के अनुरूप प्रयुक्त किये जाते हैं। उच्चरित ध्वनि-समूहों का उनके अर्थों से कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं होता। अगर यह सम्बन्ध नैसर्गिक होता तो सभी अर्थों के लिये समान शब्दों का प्रयोग होता।
5. भाषा के ध्वनि-प्रतीक विवेचना के योग्य होते हैं; वे लिखित और उच्चरित दोनों हो सकते हैं।
6. भाषा का उच्चरित रूप तो परिवर्तित होता रहता है, परन्तु उसका लिखित रूप यथासम्भव अपरिवर्तित है अर्थात् उसमें परिवर्तन नहीं होता।
7. भाषा के उच्चरित प्रतीक सार्थक होते हैं और इन प्रतीकों की सार्थकता किसी वर्ग या समाज से सम्बद्ध रहती है।
8. चूँकि भाषा विचार-विनिमय का साधन है; अतः उन सबका उद्देश्य वक्ता के भावों—विचारों को दूसरों तक पहुँचाना होता है।
9. भाषा का प्रयोग किसी पूर्वनिर्दिष्ट परम्परा के द्वारा निर्धारित होता है। ऐसी स्थिति में परम्परा भी रूढ़िगत प्रयोग में अनिवार्य तत्त्व का काम करती है।
10. भाषा के विचार-पक्ष तथा अभिव्यक्ति-पक्ष में एक विशेष प्रकार का सम्बन्ध होता है। विचारों और अभिव्यक्ति के बीच सम्बन्ध कब और कैसे बना; इसको पूर्णतः बताना कठिन है।

भाषाविदों की दृष्टि में भाषा का मुख्य तत्त्व उसका उच्चरित (वाचिक) रूप ही है। आज कल उसी पर बल दिया जाता है। लिखित भाषा को आजकल गौण रूप में ही स्वीकार किया जाता है।

उक्त तथ्यों को ध्यान में रखकर यह कहा जा सकता है कि भाषा सापेक्ष वस्तु है। मनुष्य का उसके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है; क्योंकि मनुष्य के आन्तरिक विचारों को मूर्त रूप

प्रदान करने वाली वही है। श्रोताओं तक अपने विचार प्रकट करते समय भाषा के ध्वनि-सङ्केत ही एक स्वस्थ माध्यम बनते हैं। वे ध्वनि-सङ्केत वक्ता के मुख आदि अवयवों से निकल कर विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।

यहाँ ध्येय है कि ध्वनि-सङ्केतों के प्रयुक्त होने का तात्पर्य यही है कि इन सङ्केतों की एक पूर्ण निर्दिष्ट क्रमबद्ध व्यवस्था होती है। इसी से वे सार्थक होते हैं। वस्तुतः भाषा के अन्य तत्त्व उतने महत्त्वपूर्ण नहीं होते, जितना उनका उच्चारणपक्ष, सार्थकता एवं विशेषण की क्षमता आदि।

उक्त विवेचन से निष्कर्ष रूप से दो और बातें स्पष्ट होती हैं। एक तो यह कि भाषा के भी प्रमुख एवं गौण दो अङ्ग होते हैं। उसके प्रमुख अङ्ग ध्वनिसमूह अथवा प्रतीक हैं, जिन्हें वर्ण कहा जाता है। प्रत्येक भाषा का अपना एक स्वतन्त्र ध्वनि-समूह (वर्ण-समूह) होता है। पाश्चात्य भाषा-विज्ञान इसी प्रमुख अङ्ग का विवेचन करता है। यही उसकी विशेषता है।

इस सन्दर्भ में यह बात ध्यान देने योग्य है कि भाषा-विज्ञान का आधुनिक अध्ययन भाषा के उच्चरित रूप से सम्बन्धित है।

भाषा के विविध रूप

जिस प्रकार एक ही व्यक्ति विभिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न संज्ञाओं को धारण करता है, उसी प्रकार भाषा भी भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न रूप धारण करती है। जैसे—एक ही स्त्री पिता के प्रति पुत्री का, भाई के प्रति बहन का, पति के प्रति पत्नी का, तथा सन्तान के प्रति माता का रूप धारण करती है और इसी प्रकार एक ही मनुष्य विद्यालय में पढ़ते समय विद्यार्थी, पढ़ाते समय गुरु, यात्रा करते समय यात्री, खेत में काम करते समय कृषक आदि अनेक रूपों को धारण करता है, वही दशा भाषा की भी है। विचारों अथवा भावों को व्यक्त करने के साधन के रूप में जिस प्रकार ध्वनि-समूह 'भाषा' है, उसी प्रकार अभिप्राय व्यक्त करने का प्रत्येक साधन, जैसे—इङ्गित मुद्रा, मुखविकार आदि सामान्य अर्थ में 'भाषा' कहलाते हैं। परन्तु भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में जब कभी हम भाषा की बात करते हैं तब भाषा मनुष्य की उस चेष्टा या व्यापार को कहते हैं, जिससे मनुष्य अपने उच्चारणोपयोगी शरीर के अंगों से उच्चरित ('व्यक्त') अपने विचारों को प्रकट करता है। यद्यपि भाषा का आन्तरिक सङ्ठन एक होता है, परन्तु परिस्थिति आदि के कारण वह विविध रूप धारण कर लेती है। यहाँ भाषा के विविध रूपों पर प्रकाश डालना अभीष्ट है।

1. **बोली**–उन सभी लोगों की भाषा को बोली कहा जाता है, जिनके बोलने में भाषागत अन्तर और भेद स्पष्ट रूप से परिलक्षित नहीं होता। यद्यपि यह सही है कि एक क्षेत्र के सभी लोगों की बोली में अन्तर होता है, परन्तु वह भेद स्पष्ट रूप से परिलक्षित

नहीं होता। साधारणतः एक बोली बोलने वाले लोग एक-दूसरे की बोली को आसानी से समझ लेते हैं। भौगोलिक और सांस्कृतिक कारणों से बोलियाँ बन जाती हैं। वस्तुतः 'बोली' से अभिप्राय एक निश्चित सीमा के अन्तर्गत बोली जाने वाली उस वाणी से है, जिसमें उच्चारण-साम्य तथा शैली-साम्य हो। एक ही स्थान से उच्चारित होने वाले अनेक वर्गों में कुछ अपनी जातिगत और वर्गगत विशेषतायें होती हैं। बोली में साहित्यिक रचना का अभाव होता है।

इसको उपभाषा भी कहा जाता है। यह भाषा का सङ्कुचित एवं लघुतम रूप होता है। अपनी पुस्तक में बोली की परिभाषा देते हुये प्रख्यात भाषाविद् श्यामसुन्दरदास ने कहा है—''बोली से हमारा अभिप्राय उस स्थानीय और घरू (घरेलू) बोली से है, जो तनिक भी साहित्यिक नहीं होती और बोलने वालों के मुख में रहती है।''

2. विभाषा–विभाषा का क्षेत्र बोली की अपेक्षा व्यापक होता है। विभाषा का रूप परिमार्जित, शिष्ट एवं साहित्यसम्पन्न होता है। एक-एक विभाषा के अन्तर्गत अनेक बोलियाँ होती है; जो कि उच्चारण और शब्द-प्रयोग की दृष्टि से भिन्न होने पर भी एक भाषा के अन्तर्गत स्वीकार कर ली जाती हैं। विभाषा का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व होता है। श्यामसुन्दरदास ने विभाषा की परिभाषा यों की है—''एक उपप्रान्त अथवा उपप्राप्त की बोल-चाल तथा साहित्यिक रचना की भाषा को उपभाषा कहते हैं। विभाषा का क्षेत्र बोली की अपेक्षा विस्तृत होता है। यह एक प्रान्त या उपप्रान्त में प्रचलित होती है। इसमें साहित्यिक रचनायें भी प्राप्त होती हैं। जैसे हिन्दी की विभाषायें प्रचलित हैं—खड़ी बोली, ब्रजभाषा, अवधी, भोजपुरी आदि।

बोलियाँ कभी-कभी समय पाकर विभाषा तथा साहित्यिक भाषा तक के पद को प्राप्त कर लेती हैं। यहाँ यह ध्येय है कि भाषा का अपना एक स्वतन्त्र अस्तित्व होता है। इस सन्दर्भ में यह भी ध्यान देने योग्य है कि बोलियों के उपबोली, व्यक्तिबोली आदि कई भेद होते हैं।

बोली और भाषा में अन्तर

बोली और भाषा में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं होता। ध्वनि, पद, वाक्य, अर्थ आदि भाषा के जिन अङ्ग-उपाङ्गों को शास्त्रीय विवेचन का आधार बनाया जाता है, वे सभी बोली में भी मिलते हैं। इन्हीं कारणों से आधुनिक भाषाविद् (एडवर्ड सपरि, मेरियो पायी) आदि विद्वान् बोली एवं भाषा में अन्तर स्वीकार नहीं करते। मोटे तौर पर बोली-भाषा के मुख्य भेदक-तत्त्व अधोलिखित हैं—

1. बोली किसी वर्गविशेष या स्थानविशेष तक सीमित होती है, पर भाषा का क्षेत्र व्यापक होता है। अर्थात् भाषा का व्यवहार अधिक दूर तक होता है पर बोली का व्यवहार

कम दूर तक।

2. बोलियों का किसी भाषा के साथ ऐतिहासिक सम्बन्ध होता है। इसको दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि बोली भाषा भी बन सकती है। जैसे—खड़ी बोली, जो मेरठ-सहारनपुर की एक बोली थी, वही आज सामान्य हिन्दी भाषा की रूप धारण कर भारतीय संविधान में हिन्दी के नाम से प्रचलित है और आज राष्ट्रभाषा का पदवी को प्राप्त है।

3. भाषा के अन्तर्गत कई बोलियाँ होती हैं। परन्तु एक बोली के क्षेत्र में कई भाषायें नहीं होती। वस्तुतः बोली-समूह का ही नाम भाषा है।

4. बोली दिन-प्रतिदिन के व्यवहार में ही काम आती है और वह जीवन के सामान्य क्रिया-कलापों तक सीमित रहती है इसके विपरीत भाषा का प्रयोग दैनिक व्यवहार के अतिरिक्त लेखन, शासन, शिक्षा आदि के लिये भी किया जाता है।

5. बोलियों में परिवर्तन द्रुत गति से होता है, पर भाषाओं में ऐसा नहीं है। 'कोस-कोस पर बदलै पानी चार कोस पर बानी' यह कहावत भाषा, विशेषतः बोली के विषय में अधिक लागू होती है।

6. बोली स्वतभावतः गतिशील होती है; परन्तु भाषा अपनी स्वाभाविक रूप से स्थिरता की ओर उन्मुख होती है।

7. बोलियों में से कोई बोली महत्त्व प्राप्त कर भाषा बन जाती है। 'ब्रजभाषा तथा अवधी' इसी श्रेणी की बोलियाँ हैं।

8. व्याकरण की दृष्टि से 'भाषा' परिष्कृत होती है, जबकि उस दृष्टि से बोली अपरिष्कृत होती है। किसी भाषा की विविध बोलियों में परस्पर बोधमयता होती है जबकि भाषाओं में ऐसा नहीं होता।

9. कम पढ़े लिखे लोग तथा प्रायः गाँवों में रहने वाले लोग बोली का प्रयोग करते हैं जब कि पढ़े लिखे तथा नगरों में रहने वाले लोग भाषा का प्रयोग करते हैं।

10. राजनैतिक कारणों से भाषा का विकास एवं विस्तार होता है, जैसा कि सम्राट् अशोक का आश्रय पाकर पालि भाषा का हुआ था, परन्तु बोली के लिये ऐसी बात नहीं है।

उपर्युक्त प्रकार से बोली एवं भाषा में अन्तर का प्रतिपादन करने के बाद निष्कर्ष रूप से यह कहना समीचीन है कि भाषा-विज्ञान की दृष्टि से जिस प्रकार भाषा महत्त्वपूर्ण है उसी प्रकार बोली भी महनीय है।

अनेक देशी और विदेशी भाषाविदों ने बोली की परिभाषायें भी प्रस्तुत की हैं।

विभाषा तथा उपभाषा–हिन्दी के कुछ ग्रन्थों में इन दोनों का भी विचार किया गया है।

लिखित भाषा और मौखिक भाषा–भाषा जब लिपिबद्ध कर दी जाती है तब उसे लिखित भाषा और जब वक्ता के मुख में ही विद्यमान रहती है तब उसे मौखिक भाषा कहते हैं। आजकल लिखित भाषा को ही प्रामाणिक माना जाता है।

अपभाषा और आदर्श भाषा–उक्त की भाँति हिन्दी के भाषा-विज्ञानसम्बन्धी ग्रन्थों में अपभाषा और आदर्श भाषा, साहित्यिक भाषा और बोलचाल की भाषा, राष्ट्रभाषा और राजभाषा, जीवित भाषा और मृत भाषा, शुद्ध भाषा और मिश्रित भाषा, विश्वभाषा, मूल भाषा आदि को भी अध्ययन का विषय बनाया गया है। विस्तारभय से उन पर प्रकाश डालना सम्भव नहीं है।

भाषा की विशेषतायें–यद्यपि सम्पूर्ण विश्व में बोली जाने वाली भाषाओं की संख्या बहुत अधिक है। उनके स्वरूप आदि में बहुत भेद हैं। इन्हीं भेदों अथवा विशेषताओं के कारण उनमें इतनी भिन्नता हो जाती है कि एक भाषाभाषी दूसरे भाषाभाषी की भाषा को आसानी से नहीं समझ सकता। अन्य भाषा को समझने के लिये उसे बोधव्य (समझी जाने वाली) भाषा के स्वरूप, शैली, व्याकरण आदि का ज्ञान प्राप्त करना पड़ता है। मनुष्य और मनुष्येतर प्राणी में यही अन्तर होता है कि मनुष्य से भिन्न प्राणी सृष्टि के आदि से एक ही बोली बोल रहे हैं, वे दूसरे प्राणी की बोली को न तो बोल सकते हैं और न ही समझ सकते हैं। इस सन्दर्भ में ध्यान देने योग्य एक तथ्य यह भी है कि समस्त संसार के मनुष्येतर प्राणी, चाहे वे किसी देश में हों, एक ही बोली (भाषा) बोलते हैं। उदाहरणस्वरूप 'कौआ' पक्षी को ले सकते हैं। वह (कौआ) सृष्टि के आरम्भिक काल से काँव-काँव कर रहा है, सभी देश के कौए बस एक ही बोली बोल रहे हैं और वे दूसरे प्राणी की बोली को बोलने-समझने में असमर्थ हैं; परन्तु उक्त के विपरीत मनुष्य एक ऐसा प्राणी है कि जिसके पास शब्द-सम्पत्ति से परिपूर्ण अपने भावों को अभिव्यक्त करने के लिए 'भाषा' का साधन है। वह अपनी भाषा के अतिरिक्त दूसरी भाषा को सीख सकता है, उसमें बोल सकता है और लिख सकता है। मनुष्य की इसी प्रकार की ज्ञानमूलक अलौकिक शक्ति के कारण संसार की भाषायें एक-दूसरे से अंनेक दृष्टियों से भिन्न हो जाती हैं। परन्तु इन भिन्नताओं के बावजूद सभी भाषाओं में कुछ ऐसी सामान्य विशेषतायें या प्रवृत्तियाँ होती हैं, जो सभी भाषाओं में व्याप्त होती हैं और जो सभी में समान रूप से पायी जाती हैं। यहाँ उन विशेषताओं पंर प्रकाश डालना अभीष्ट है।

1. भाषा मनुष्य की आनुवंशिक सम्पत्ति नहीं है–वह किसी व्यक्ति को जन्म से प्राप्त नहीं होती और न ही किसी जाति का उस पर जन्मसिद्ध अधिकार होता है। यह

आवश्यक नहीं कि बालक अपने माता-पिता की भाषा के अतिरिक्त दूसरी भाषा नहीं सीख सकता। कोई भारतीय बालक यदि जन्म से ही किसी अन्य देश में रहे, तो वह निश्चित रूप से उस देश की भाषा सीख लेगा। ऐसा भी सम्भव है कि यदि बालक अति बाल्यावस्था में दूसरे भाषा-भाषियों के सम्पर्क में रहे तो वह उनकी भाषा सीख लेगा और यह सम्भव है कि वह एक लम्बी कालावधि तक दूर रहने के कारण अपने माता-पिता की ही भाषा को न जान सके।

2. भाषा अर्जित सम्पत्ति है–उक्त तथ्य तथा अन्य तथ्यों के आधार पर भाषा की एक प्रमुख विशेषता, जो सभी भाषाओं पर लागू होती है, यह कही जा सकती है कि भाषा अर्जित सम्पत्ति है। भाषा को अर्जित किया जा सकता है, पर उसका उत्पादन नहीं किया जा सकता। इसीलिये महावैयाकरण पतञ्जलि ने कहा कि 'घट' आदि वस्तुओं के लिये तो मनुष्य कुम्भकार से 'घट' बनाने की बात कह सकता है; परन्तु कोई वैयाकरण के पास जाकर उससे शब्द-निर्माण की बात नहीं कर सकता।

मनुष्य वातावरणविशेष में रहते हुये कोई भी भाषा सीख सकता है, परन्तु भाषा को उत्पन्न नहीं कर सकता। अपने देश का कोई बालक यदि ब्रिटेन, अमेरिका आदि देशों में रहने लगे तो वह वहाँ की भाषा में बोलने और लिखने लगेगा। मनुष्य में विविध विषयों के ज्ञान को प्राप्त करने की क्षमता होती है। वह क्षमता भाषा-ज्ञान में भी दृष्टिगोचर होती है। मनुष्य इसी ज्ञान की प्राप्ति के कारण अन्य प्राणियों से भिन्न हो जाता है। यही कारण है कि मनुष्य अनेक भाषाओं का ज्ञाता हो जाता है। यह एक ऐसी विशेषता है; जिसके कारण अन्य भाषा-भाषी मनुष्य अन्य भाषा में लिख-बोलकर सबको आश्चर्यचकित कर देता है।

3. भाषा सामाजिक वस्तु है–भाषा का समाज से घनिष्ठ सम्बन्ध है। वह समाज-सापेक्ष है, समाज ही उसके विकास, अर्जन तथा प्रयोग–इन तीनों का मञ्च है। भाषा को पूर्णतः समझने के लिये तत्सम्बन्धी समाज तथा वातावरण का ज्ञान आवश्यक है। वास्तविकता यह है कि भाषा भी लोकतन्त्र की ही भाँति समाज की, समाज के लिये, समाज द्वारा निर्मित होती है। यहाँ एक बात ध्यान में रखना आवश्यक है कि भाषा समाज से अवश्य सीखी जाती है, परन्तु उसका श्रीगणेश माता से होता है। भाषा जैसी सामाजिक वस्तु को शिशु तक पहुँचाने का काम अथवा शिशु को भाषा से परिचित कराने का काम सर्वप्रथम माता ही करती है। 'मातृभाषा' शब्द का प्रयोग करने में इस यथार्थ की महती भूमिका है। परन्तु इतना अवश्य है कि बालक जिस भाषा को माता के सान्निध्य में प्राप्त करता है, वह समाज की ही सम्पत्ति है। इस प्रकार भाषा का प्रारम्भ मुख्य रूप से सामाजिकता के निर्वाह के लिये ही हुआ है।

4. भाषा की परिवर्तनशीलता–संसार की अन्य वस्तुओं के समान ही भाषा भी

परिवर्तनशील है। संसार की कोई भी ऐसी भाषा नहीं है, जिसमें परिवर्तन न हुआ हो। अनुकूल या प्रतिकूल दोनों ही परिस्थितियों में भाषा में परिवर्तन होता है। परिवर्तन भाषा के शब्द, ध्वनि, व्याकरण आदि सभी तत्त्वों में होता है।

'गोधूम' से 'गेहूँ', 'शुष्क' से 'सूखा', 'पत्र' से 'पत्ता', 'गोस्वामी' से 'गुसाई' आदि में ध्वनि आदि का परिवर्तन तो होता ही है, उसके अर्थ आदि में भी परिवर्तन होता है। वेद में 'असुर' शब्द का अर्थ 'देवता' होता है, परन्तु बाद में 'देवता' के स्थान पर उसका अर्थ 'राक्षस' हो गया। इसी प्रकार चतुर्वेदी से चौबे, द्विवेदी से दूबे, कृष्ण से कन्हैया आदि शब्द भी भाषा की परिर्विनशीलता के उदाहरण हैं।

5. उच्चरित रूप से भाषा की परिवर्तनशीलता–यद्यपि भाषा के उच्चरित और लिखित दोनों रूपों में परिवर्तन होता है, परन्तु पहले उच्चरित रूप में परिवर्तन होता है, फिर लिखित रूप में। कभी-कभी तो उच्चरित रूप में परिवर्तन हो जाने पर भी लिखित रूप में परिवर्तन नहीं हो पाता। उच्चारण और वर्तनी में भेद का कारण यही है। अंग्रेजी में Laughtes, Daughtes, Though, Through, Sulette आदि शब्दों का उच्चारण बहुत बदल गया है, परन्तु उनकी वर्तनी (लिखित रूप) सदियों पुरानी है।

6. भाषा की संरचनागत भिन्नता–'संरचना' से तात्पर्य भाषा के गठन (स्ट्रक्चर) से है, जिस पर आधुनिक भाषा-वैज्ञानिक अधिक ध्यान देते हैं। प्रत्येक भाषा का बाह्य रूप, जिसे उसका आकार-प्रकार या ढाँचा कहते हैं, दूसरी भाषा से पृथक् होता है। संरचना यदि भाषा का आन्तरिक संगठन है तो ढाँचा उसका बाहरी। दोनों एक-दूसरे पर आश्रित हैं। यही कारण है कि विभिन्न भाषाओं में लिङ्ग, वचन, क्रिया आदि में विभिन्नता होती है। संस्कृत में तीन वचन हैं, तो हिन्दी में केवल दो वचन। इस प्रकार रूसी भाषा में भी दो वचन हैं। संस्कृत में तीन लिङ्ग हैं–पुँल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग, लेकिन हिन्दी में प्रथम दो ही लिङ्ग हैं। गुजराती में तीन लिङ्ग हैं।

तेलगू भाषा का अन्त्याक्षर स्वर होता है, व्यञ्जन नहीं। इसीलिये उसे अजन्त भाषा (स्वरान्त भाषा) कहते हैं। इसके विपरीत जापानी भाषा में कोई अक्षर या शब्द व्यञ्जनान्त नहीं होता। जैसे–ना, गा, सा, की। कुछ भाषाओं में ध्वनियों को प्रकट करने के लिये चिह्न नहीं होते; अन्य ध्वनियों से ही उनका काम चलाया जाता है। अंग्रेजी का 'T' चिह्न-ध्वनि हिन्दी वर्णमाला की 'ट' और 'त' दोनों ध्वनियों का काम करता है।

कुछ भाषाओं में कुछ ध्वनियों का संयोग प्रचलित है, जैसे अंग्रेजी में स्, ट्, र् का संयोग खूब प्रचलित है। जैसे–स्ट्रेट आदि; पर जापानी में यह सम्भव नहीं है। संस्कृत या हिन्दी में 'कात्स्न्र्य' में पाँच ध्वनियों का संयोग है। इस प्रकार का ध्वनिसंयोग अन्यत्र सम्भव नहीं है।

7. भाषा की सर्वव्यापकता–मनुष्य का समस्त क्रिया-कलाप भाषा से व्याप्त है और उसी के द्वारा सञ्चालित होता है। भाषा के बिना व्यक्ति का व्यक्ति से सम्बन्ध या व्यक्ति से समाज का सम्बन्ध कल्पनातीत है। महान् वैयाकरण (भाषाविद्) भर्तृहरि का कहना है कि लौकिक कर्त्तव्य का बोध शब्द पर अर्थात् भाषा पर आधारित है—

इतिकर्त्तव्यता लोके सर्वा शब्दव्यपाश्रया।

उनका तो यहाँ तक कहना है कि संसार में ऐसा कोई ज्ञान (बोध) नहीं है, जो भाषा के बिना सम्भव हो। समस्त ज्ञान भाषा से अनुविद्ध (अनुस्यूत) सा दिखायी देता है—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यःशब्दानुगमादृते।।

अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते।। —वाक्यदीप, ब्रह्मकाण्ड-123-24

8. भाषा का भौगोलिक सीमा की भिन्नता–प्रत्येक भाषा की भौगोलिक सीमा होती है और एक स्थान से दूसरे स्थान की भाषा में भेद होता है। लोकभाषा में यह कहावत कही जाती है–'चार कोस पर बदले पानी, आठ कोस पर बानी'। भाषा का यह स्वरूपगत भेद भौगोलिक भेद के कारण ही होता है। वस्तुतः ऐसे भेदों का प्रारम्भ उसकी बोली से होता है। भौगोलिक भेद के कारण एक ही भाषा की बोलियों में अन्तर होने के कारण भाषा में भी अन्तर हो जाता है, जैसे–दिल्ली-कुरुक्षेत्र के आस-पास बोली जाने वाली हिन्दी और बिहार के पूर्वी जिलों–भागलपुर आदि में बोली जाने वाली हिन्दी में स्पष्ट अन्तर प्रतीत होता है।

9. भाषा सहज और नैसर्गिक क्रिया है–भाषा दो प्रकार से सीखी जाती है–1. अनुकरण द्वारा और 2. बौद्धिक प्रयत्न द्वारा। मातृभाषा अनुकरण द्वारा और अन्य भाषायें–संस्कृत, मराठी, गुजराती, अंग्रेजी, रूसी आदि बौद्धिक प्रयत्न द्वारा सीखी जाती हैं। दोनों में श्रम होता है। अन्तर यही है कि अनुकरण की प्रक्रिया में बुद्धि के अविकसित होने के कारण श्रम का बोध नहीं होता। जब हम सचेत अवस्था में कोई दूसरी भाषा सीखते हैं तो श्रम का अनुभव करते हैं। यहाँ यह ध्येय है कि जो भाषा बौद्धिक प्रयत्नों द्वारा सीखी जाती है, उसका अभ्यास होने के अनन्तर कुछ दिनों बाद उसके प्रयोग में भी सहजता आ जाती है।

10. भाषा में स्तर-भेद–मनुष्य के सामाजिक स्तर के कारण भाषा की ध्वनियों, शब्द-समूहों में ही नहीं; प्रत्युत उसके व्याकरणसम्बन्धी ढाँचे पर भी प्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि वैज्ञानिक, वकील, विद्यार्थी, अध्यापक, कवि, दार्शनिक, मजदूर, रिक्सा-चालक आदि की भाषा में अन्तर होता है।

11. भाषा-प्रवाह की अविच्छिन्नता (विकास की निरन्तरता)–भाषा की धारा सतत गतिशील होती है। जिस प्रकार उद्गम-स्थल से उद्भूत नदी की धारा समुद्र-पर्यन्त अविच्छिन्न होती है, उसी प्रकार भाषा अपने आरम्भ काल से सतत गतिशील रहती है। यद्यपि उसकी गतिशीलता में व्याकरण आदि के नियमों द्वारा कुछ बाधा पड़ती है, पर

उसकी गति की धारा अविच्छिन्न और अटूट ही बनी रहती है। व्यक्ति भाषा को अर्जित कर सकता है, उसमें थोड़ा परिवर्तन भी कर सकता है; किन्तु न तो उसे उत्पन्न कर सकता है और न ही उसे समाप्त कर सकता है।

12. भाषा की कठिनता से सरलता की ओर गतिशीलता (भाषा में प्रयत्न-लाघवता)–यह देखने में आता है कि प्रारम्भ में भाषा की ध्वनियाँ जटिल होती हैं, पर बाद में उनमें सरलता आ जाती है। तत्सम शब्दों के तद्भव रूपों का विकास इसी तथ्य का प्रकाशक है। 'रामचन्द्र' का 'रामचन्दर', 'हास्पिटल' का 'अस्पताल', 'टाइम' का 'टेम' आदि इसी वास्तविकता के बोधक हैं। भाषा में प्रयत्नलाघव का नियम सदैव लागू होता है, जिससे एक ओर भाषा का सरलीकरण होता है और दूसरी ओर वक्ता-श्रोता के समय में बचत भी होती है।

13. भाषा का स्थिरीकरण (नियमबद्धता)–भाषा में प्रायः दो (परस्पर विरोधी) प्रवृत्तियाँ दिखायी देती हैं–एक विविधता तथा परिवर्तन की तथा दूसरी एकरूपता एवं स्थिरीकरण की। भाषा में परिवर्तन की अनिवार्यता के कारण उसमें विविधता का होना स्वाभाविक है। यही कारण है कि एक युग की भाषा दूसरे युग की भाषा से भिन्न हो जाती है। यदि परिवर्तन की इस रफ्तार का नियमन न हो तो अत्यधिक परिवर्तन के कारण एक ही पीढ़ी में भाषा की दुर्बोधता सामने आ जायगी। अतः भाषा में स्थिरता बनाये रखने के लिये परिवर्तन को रोकना चाहता है। इससे परिवर्तन सर्वांशतः रुकता नहीं, परन्तु उसकी गति मन्द अवश्य पड़ जाती है, जिससे भाषा को वाञ्छनीय स्थिरता मिलती है। यह कई दृष्टियों से अपेक्षित है। भाषा को स्थिरता परम्पराप्राप्त साहित्य, केन्द्रीय शासन, सञ्चार के सुविधाप्रद साधन, परिनिष्ठित भाषा में शिक्षा आदि द्वारा विशेष रूप से मिल सकती है।



द्वितीय अध्याय

उत्पत्ति के सिद्धान्त

भाषा सामाजिक जीवन के लिये अत्यावश्यक तत्त्व है, क्योंकि वह पारस्परिक विचार-विनिमय का प्रमुख माध्यम है, किन्तु भाषा की उत्पत्ति का प्रश्न एक ऐसा प्रश्न है, जिसका सर्वसम्मत समाधान आज तक नहीं हो सका। इसका मुख्य कारण यही है कि भाषा की उत्पत्ति का प्रश्न मानव की उत्पत्ति तथा उसके भावों की अभिव्यक्ति के प्रश्न के साथ जुड़ा है। ऐसा लगता है कि जब तक मानव की उत्पत्तिविषयक समस्या का समाधान नहीं हो जाता, तब तक भाषा की उत्पत्तिविषयक समस्या भी समाधित नहीं हो सकती।

वस्तुतः भाषा की उत्पत्ति का प्रकरण भाषा-विज्ञान का सर्वाधिक मनोरञ्जक प्रसङ्ग है। इस सम्बन्ध में भाषावैज्ञानिकों द्वारा अनेक सम्भावनायें तथा परिकल्पनायें की गयीं; परन्तु किसी निश्चित निष्कर्ष की उपलब्धि नहीं हो सकी। सम्प्रति भाषावैज्ञानिक भाषा की उत्पत्ति के विवाद से इसलिये दूर रहना चाहते हैं; क्योंकि उनके मत में इस समस्या का समाधान सम्भव ही नहीं है। यद्यपि आधुनिक भाषावैज्ञानिकों ने भाषा के उत्पत्तिविषयक विभिन्न सिद्धान्तों अथवा मतों को वैज्ञानिक प्रक्रिया के अनुकूल न होने से इस विषय में अभिरुचि रखने के प्रति उत्सुकता नहीं दिखायी है, फिर भी इस प्रकरण के ऐतिहासिक महत्त्व को ध्यान में रखकर इस पर विचार कर लेना असमीचीन नहीं है। धर्मग्रन्थों और धर्मशास्त्रों में श्रद्धा रखने वालों के लिये यह विषय समस्या के रूप में प्रतीत नहीं होता। वे तो सृष्टि के प्रारम्भ-काल में ही भाषा की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं। संस्कृत को देववाणी अथवा ईश्वरीय वाणी कहने में इसी प्रकार के विचार की महती भूमिका है। सम्प्रति भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विचार करना अभिप्रेत है।

'भाषा की उत्पत्ति' इस कथन से दो बातें अभिप्रेरित होती हैं—

1. भाषण अर्थात् ध्वनन अर्थात् बोलने की शक्ति की उत्पत्ति।

2. उच्चरित ध्वनि तथा अर्थ में परस्पर संसर्ग स्थापित करने की क्षमता का आरम्भ।

जहाँ तक ध्वनन अर्थात् ध्वनि उत्पन्न करने की बात है तो वह असंख्य मनुष्येतर प्राणियों (पशु, पक्षियों) में भी पायी जाती है। बिल्ली 'म्याऊँ-म्याऊँ' कहती है। कुत्ता 'भों-भों' करता हुआ भौंकता है। कोयल 'कू-कू' (कुहू-कुहू) बोलकर कूकती है। कौआ 'काँव-काँव' करता है। इसी प्रकार अन्य पशु-पक्षियाँ भी ध्वनियों का उच्चारण करती हैं; परन्तु उन पशु-पक्षियों के द्वारा उच्चरित ध्वनियों में सार्थकता नहीं होती। अतः पशु-पक्षियों की ध्वनियों (बोलियों) को उस अर्थ में भाषा नहीं कहा जा सकता, जिस अर्थ में मनुष्य की ध्वनि को 'भाषा' कहा जाता है। आदिकाल में अन्य जीवों की भाँति समर्थ प्राणी होने के

कारण, इस प्रकार की क्षमता मनुष्य में भी रही होगी और ज्ञानवान प्राणी होने के नाते मनुष्य ने अपने द्वारा उच्चरित ध्वनियों में सार्थकता का निवेश किया। ध्वनि और अर्थ का इस प्रकार का सम्बन्धस्थापन ही मनुष्य की भाषा बनने का मुख्य आधार है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने ध्वनि को शब्द कहा भी है—**तस्माद् ध्वनिः शब्दः**। उन्होंने महाभाष्य में स्पष्ट किया है कि अर्थ (पदार्थ) को बोध कराने वाली ध्वनि लोक में 'शब्द' कहलाती है—**प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते।**

जब हम भाषा की उत्पत्ति के प्रश्न पर विचार करते हैं तो उसका अभिप्राय यही होता है कि ध्वनि के साथ अर्थ के संयोग (शब्द के साथ अर्थ के सम्बन्ध) को मनुष्य ने कब से जोड़ा? अर्थ वाच्य होता है और शब्द उसका वाचक। यह वाच्य-वाचक सम्बन्ध कब से प्रारम्भ हुआ? शब्द और अर्थ के बीच किस प्रकार का सम्बन्ध है? वह सम्बन्ध नित्य है अथवा अनित्य? वैयाकरणों ने इस प्रश्न पर बहुत विचार किया है। यद्यपि दार्शनिकों, भाषा-वैज्ञानिकों, इतिहासज्ञों, मानव-विज्ञान-वेत्ताओं आदि ने भाषा की उत्पत्ति के विषय में अनेक सिद्धान्त प्रस्तुत करने का प्रयास किया है, किन्तु वे अनुमान पर आधारित हैं। उनमें कोई निर्णयात्मक प्रमाण (सामग्री) नहीं है। ऐसी स्थिति में उन्हें (सिद्धान्तों को) निर्दोष नहीं कहा जा सकता।

वस्तुतः जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, भाषा की उत्पत्ति का प्रश्न मनुष्य की उत्पत्ति के साथ जुड़ा हुआ है। इस सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार मनुष्य की उत्पत्ति हुई होगी, उसी प्रकार भाषा की भी उत्पत्ति को मान लेना चाहिये।

सम्प्रति भाषोत्पत्ति को भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में परिगणित नहीं किया जा रहा है। यही कारण है कि भाषा-विज्ञान की अति आधुनिक पुस्तकों में भी भाषा की उत्पत्ति से सम्बन्धित सिद्धान्त चर्चित नहीं होते। पर इतना अवश्य है कि अनेक प्राचीन विद्वानों ने भाषा की उत्पत्ति के विषय में अपने विचार व्यक्त किये हैं, अतः ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्व के कारण इस विषय में विचार करना असंगत नहीं है। विचार करने से यह प्रत्यक्ष लाभ तो है ही कि भाषा की उत्पत्ति के विषय में उनके (प्राचीन विद्वानों के) क्या विचार हैं? इतना तो अवश्य है कि अन्तिम निर्णय चाहे भले हम न कर सकें; पर विभिन्न मतों का ऊहापोह करने से किसी निश्चित सिद्धान्त तक पहुँचने में सहायता तो मिल ही सकती है।

आज के इस वैज्ञानिक युग में मानव-मस्तिष्क अनुमान आदि के आधार पर किये गये किसी निर्णय अथवा निकाले गये किसी निष्कर्ष से सहमत नहीं हो सकता। वह प्रत्येक समस्या के समाधान हेतु वैज्ञानिक प्रक्रिया अपनाने का पक्षधर है। उसी प्रक्रिया के अन्तर्गत विद्वानों ने भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष मार्ग (Deductine Method) तथा परोक्ष मार्ग (Inductine Method) से अध्ययन करने का प्रयास किया है। प्रत्यक्ष मार्ग में

सामान्य सिद्धान्तों का निर्धारण करते हुये प्राचीनता के आधार पर अर्वाचीनता (आधुनिकता) की जानकारी की जाती है। इसके विपरीत परोक्ष मार्ग में आधुनिक भाषाओं के स्वरूप का वैज्ञानिक अध्ययन करते हुये प्राचीन भाषा तक पहुँचने का प्रयास किया जाता है।

1. प्रत्यक्ष मार्ग (Deductine Method)

दैवी-उत्पत्ति-वाद या दिव्योत्पत्ति-सिद्धान्त (Durine Origin Theory)– इस मत या सिद्धान्त के समर्थकों का कहना है कि भाषा मानवीय सृष्टि के साथ ही प्रादुर्भूत हुयी है। ईश्वर ने संसार की सृष्टि के साथ ही भाषा की भी सृष्टि की। इस मत के समर्थक कहते हैं कि जब ईश्वर मनुष्य की सृष्टि कर सकता था तो उसकी भाषा की सृष्टि क्यों नहीं कर सकता था? ईश्वर की सृष्टि के साथ ही, शब्दों और धातुओं के द्वारा मनुष्य की भाषा की भी सृष्टि हुयी। ऐसा न मानने पर ईश्वर के ईश्वरत्व में भी न्यूनता झलकती है।

संसार के भिन्न-भिन्न धर्मों में भाषोत्पत्तिविषयक मतों के दर्शन होते हैं। सभी धर्मावलम्बियों ने अपने-अपने धर्मों तथा अपने-अपने धर्मग्रन्थों को श्रेष्ठ माना है। वे उसी शृङ्खला में भाषा को भी सम्मिलित कर लेते हैं तथा अपनी भाषा को ईश्वरप्रदत्त, आदिम और श्रेष्ठ मानते हैं। हिन्दू वेदों को सर्वप्राचीन एवं ईश्वर द्वारा विरचित मानते हैं। उनका कहना है कि संस्कृत वेदों की भाषा है। वेद अनादि हैं; अतः संस्कृत भाषा भी अनादि है। वे संस्कृत को सभी भाषाओं की जननी मानते हैं। यहाँ यह ध्येय है कि उक्त तथ्यों की पुष्टि के लिये धर्मादि ग्रन्थों के प्रमाण भी उपलब्ध हैं। ऋग्वेद के अधोलिखित मन्त्र में वाणी की दैवी उत्पत्ति स्पष्टतः उल्लिखित है—

दैवीं वाचमजनयन्त देवाः।
तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति ।—ऋग्वेद 8।100।11

अर्थात् वाग्देवी (वाणी) को देवों ने उत्पन्न किया और उसे सभी प्राणी बोलते हैं।

इस मन्त्र से वाणी की दिव्य उत्पत्ति सर्वथा निःसन्दिग्ध रूप से सिद्ध होती है।

पाणिनि द्वारा 'अइउण्, ऋलृक्' आदि चौदह सूत्रों को शङ्कर के डमरु-नाद से उत्पन्न माना गया है; इसीलिये उन्हें 'माहेश्वर सूत्र' या 'शिवसूत्र' कहा जाता है।

ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में 'सर्वहुत' सृष्टियज्ञ से अन्य प्राणियों की भाँति ऋक्, यजुः, साम, अथर्व संहिता एवं छन्दों को उत्पन्न कहा गया है—

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि यज्ञिरे।
छन्दांसि यज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥ —ऋ.पु.सू.-9

मनुस्मृति में मनु का भी यही कहना है कि ब्रह्मा ने सबके नाम (गौ, अश्व आदि),

कर्म (वेदाध्ययन, घट-निर्माण आदि) एवं लौकिक व्यवस्था को पहले वेदशब्दों से ही बनाया—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक् ।

वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥ —मनु 1।21

आचार्य दण्डी संस्कृत को दैवी-वाक् मानते हैं—

संस्कृतं नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः ॥ —काव्यादर्श 1।32

बौद्ध एवं जैन धर्म में पालि और अर्धमागधी भाषा को समस्त भाषाओं की आदि-भाषा कहते हैं। बुद्ध एवं तीर्थङ्कर के उपदेश उन्हीं भाषाओं में हैं। पालि-व्याकरण के रचयिता कच्चायन के अनुसार मागधी (पालि) भाषा सभी भाषाओं की मूल है। कल्प के प्रारम्भ में मनुष्य इसी को बोलने लगे। भगवान् बुद्ध इसी को बोलते थे।

—डॉ0 मङ्गलदेव शास्त्री-विरचित 'भाषा-विज्ञान' पृ0 147।

ईसाई आदि धर्मों की भी यही स्थिति है। कैथोलिक मतानुयायी ईसाई इब्रानी (हिब्रू) भाषा को सभी भाषाओं की जननी और उसे सर्वाधिक प्राचीन मानते हैं।

उक्त सभी सन्दर्भों से यही निष्कर्ष निकलता है कि भाषा की दिव्योत्पत्ति निराधार नहीं है।

समीक्षा–उक्त सिद्धान्त की आपत्तिजनक बात यह है कि यदि मानव-भाषा ईश्वर-प्रदत्त है तो उसमें इतना भेद क्यों है? अन्य पशुओं आदि जीवों की भाषा तो एक ही है। समस्त विश्व में सभी देशों के कुत्ते एक ही समान भौंकते हैं, घोड़े एक समान ही हिनहिनाते हैं, बिल्ली एक समान ही म्याऊँ-म्याऊँ बोलती है। इसी प्रकार सभी देशों के कोयल, कौए आदि भी एक ही समान बोलते हैं। यदि मनुष्येतर पशु-पक्षी आदि जीवों की बोली में एकरूपता दिखायी देती है तो संसार के मनुष्यों की बोली में एकरूपता के दर्शन क्यों नहीं होते? इस प्रश्न का उत्तर (समाधान) दिव्योत्पत्ति-सिद्धान्त नहीं देता। वास्तविकता यह है कि आस्तिकता के पीछे श्रद्धा काम करती है तथा वैज्ञानिकता के पीछे तर्क। दोनों की दिशायें अथवा दृष्टियाँ भिन्न हैं। यही कारण है कि श्रद्धा पर आधारित दिव्योत्पत्ति-सिद्धान्त तर्क के आधार पर उठायी गयी कठिनाइयों को सुलझाने में असमर्थ है।

इस सिद्धान्त को मानने में और अनेक कठिनाइयाँ सामने आती हैं—

1. यदि भाषा को ईश्वर ने उत्पन्न किया है तो उसको (भाषा को) सदा उसी रूप में रहना चाहिये, परन्तु वास्तविकता यह है कि विश्व की भाषाओं में प्रायः परिवर्तन एवं परिवर्धन होता रहता है। भाषा के देशकृत और कालकृत भेदों पर दृष्टि डालने से उसकी परिवर्तनशीलता स्वतः स्पष्ट हो जाती है। साहित्य की दृष्टि से किसी उन्नत भाषा के इतिहास

का अवलोकन किया जाय तो यह तथ्य प्रकाश में आता है कि भाषा की उन्नति विकासक्रम के सिद्धान्त के अनुसार होती है। यही कारण है कि सभ्य और असभ्य जातियों की भाषाओं में भारी अन्तर दिखायी देता है।

2. सम्प्रति भाषा में धातुओं का निर्धारण एवं नयी-नयी वस्तुओं के नामकरण क्यों हो रहे हैं?

3. यदि भाषा ईश्वर-प्रदत्त है तो परिष्कृत-अपरिष्कृत एवं सभ्य-असभ्य की भाषा का विभाग किस प्रकार बन सकता है?

4. मनुष्य की भाषा के विषय में अनेक परीक्षण (प्रयोग) किये गये; परन्तु निष्कर्ष यही निकला कि मनुष्य की कोई जन्मजात भाषा नहीं है।

5. सबसे बड़ी आपत्ति तो यह है कि नास्तिक लोग इस दिव्योत्पत्ति-सिद्धान्त पर कदापि विश्वास नहीं करते।

उक्त तथ्यों को दृष्टिगत विचार करने पर दिव्योत्पत्ति सिद्धान्त कई दृष्टियों से सर्वांशतः स्वीकार करने योग्य नहीं है, परन्तु इस सिद्धान्त का इतना सारतत्त्व तो स्वीकार किया ही जा सकता है कि भाषा पर आधारित भाषण-शक्ति मनुष्यवर्ग में ही है और वह ईश्वर-प्रदत्त है।

2. साङ्केतिक उत्पत्तिवाद-निर्णय-सिद्धान्त (Syndeolical Origeon Agrement Theory)

इस मत के मानने वाले विद्वानों का कहना है कि यद्यपि भाषा की उत्पत्ति ईश्वर द्वारा नहीं हुयी है, परन्तु प्रारम्भ में मनुष्य भी पशुओं की भाँति सिर, आँख, हाथ, पैर आदि अङ्गों को चलाकर अपना अभिप्राय व्यक्त करता रहा होगा; लेकिन उससे उसका अभिप्राय पूर्णतः व्यक्त नहीं हो पाता था। इस असुविधा को दूर करने के लिये सृष्टि के आदिकाल में मनुष्यों ने एकत्र होकर भाषा का निर्माण किया । उसके विचार-विनिमय का परिणाम यह हुआ कि उसे भाषा जैसा समर्थ तथा सुविधाजनक सङ्केत मिल गया, जिससे आंगिक सङ्केत की असुविधा और अपूर्णता के दूरीकरण में सहायता मिली।

यहाँ यह ध्येय है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और उसे समाज के सञ्चालन हेतु भाषा जैसी किसी एक साधन की आवश्यकता थी। अतः मानव-समाज ने मिलकर उस आवश्यकता की पूर्ति भाषा की रचना द्वारा की और वस्तुओं को साङ्केतिक नाम भी दिये।

संस्कृत में सङ्केत-सिद्धान्त के विषय में भी बहुत विचार-विमर्श हुआ है। कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि किस शब्द से किस अर्थ का बोध हो, यह ईश्वरेच्छा के कारण होता है—
अस्मात् शब्दादयमर्थो बोधव्यः।

इस विषय में भामह का कहना है—

इयन्त ईदृशा वर्णा ईदृगर्थाभिधायिनः।

व्यवहाराय लोकस्य प्रागित्थं समयः कृतः।। —भामह : काव्यालङ्कार-6।13

अर्थात् इतने ऐसे वर्ण, ऐसे अर्थ का बोध करायें, इस प्रकार सृष्टि के आदि में लोकव्यवहार के लिये सङ्केत किया गया।

समीक्षा–इस सिद्धान्त में अधोलिखित अनेक विसंगतियाँ हैं—

1. जब आदिकाल में मनुष्य के पास कोई भाषा ही नहीं थी अर्थात् उसके पास भाषा का माध्यम नहीं था, तो उसकी आवश्यकता का अनुभव कैसे हुआ? आज भी बन्दर आदि पशुओं को उसकी आवश्यकता का अनुभव कहाँ हो रहा है।

2. भाषा के अभाव में मानव-सभा में किस माध्यम से विचार-विमर्श हुआ? वाणीविहीन मनुष्यों की भीड़ तर्क-वितर्क के माध्यम द्वारा किसी निष्कर्ष पर कैसे पहुँच सकी?

3. महासभा में उपस्थित लोगों को जब शब्द-अर्थ के बीच वाच्य-वाचकभाव का पता ही नहीं था तो विभिन्न अर्थों के वाचक विभिन्न शब्दों का निर्माण कैसे हुआ? मत-विभिन्नता के कारण किसी एक का निर्धारण करना कैसे सम्भव हुआ?

इस प्रकार यह सिद्धान्त भी भाषा की उत्पत्ति को लेकर उठने वाली समस्या का समाधान नहीं कर सकता; इसीलिये यह सिद्धान्त विद्वानों द्वारा अमान्य घोषित कर दिया गया है।

3. धातु-सिद्धान्त (Root Theory)– इस सिद्धान्त के प्रतिपादक मैक्समूलर तथा उद्भावक प्रोफेसर हेस हैं। मैक्समूलर का कहना है कि सृष्टि के आदि में मानव के पास एक ऐसी स्वाभाविक विभाविका शक्ति थी, जो चार या पाँच सौ धातुओं को जन्म देकर नष्ट हो गयी। उन्हीं धातुओं के आधार पर संसार की भाषाओं का निर्माण हुआ। यही कारण है कि विश्व की भाषाओं में समता देखने को मिलती है।

समीक्षा–गम्भीरता से विचार करने पर यह बात साफ हो जाती है कि यह सिद्धान्त भी भाषा की उत्पत्तिसम्बन्धी समस्या का समाधान करने में असमर्थ है। ऐसा कहने के आधार निम्नाङ्कित हैं—

1. सैकड़ों की संख्या में धातुओं की उत्पत्तिसम्बन्धी मैक्समूलर की अवधारणा उनके व्यक्तिगत मस्तिष्क की उपज है।

2. दूसरा प्रश्न यह है कि उक्त उद्भाविका शक्ति कहाँ से आयी और लुप्त क्यों हो गयी?

3. विश्व की सभी भाषायें धातु पर आधारित नहीं हैं। वास्तविकता यह है कि

भाषा का विकास वाक्यों से हुआ है। चीनी भाषा आदि समस्त असभ्यों की भाषा में भी धातु नहीं है।

4. परिकल्पित की गयी धातुओं की संख्या स्वल्प है। अकेले संस्कृत में ही लगभग दो हजार धातुयें हैं।

5. वस्तुतः विभाविका शक्ति के प्रादुर्भूत होने तथा उसके विनष्ट होने की कल्पना हास्यास्पद है।

उक्त आधारों पर यह मत स्वीकार किये जाने के योग्य नहीं है।

4. अनुरणन मूलकतावाद-रणनसिद्धान्त (Ding Dong Theory)–इस सिद्धान्त का पहला सङ्केत प्लेटो ने किया था और उसे मैक्समूलर ने आगे बढ़ाया। इस सिद्धान्त के अनुसार शब्द और अर्थ के बीच सम्बन्ध पर गहन और गंभीर विचार किया गया है। एक मत के अनुसार शब्द और अर्थ में नित्य सम्बन्ध माना गया है—**शब्दार्थयोः नित्यः सम्बन्धः**। विश्व में प्रत्येक वस्तु की एक अपनी विशिष्ट ध्वनि होती है, जो किसी वस्तु के द्वारा आघात होने पर सहसा प्रकट हो जाती है। ईंट, पत्थर, लकड़ी आदि पर हथौड़े आदि से आघात करने पर विभिन्न प्रकार की ध्वनियाँ निकलती हैं, जिनके सुनने से यह आभास हो जाता है कि कौन-सी वस्तु गिरी है या टूटी है। क्योंकि विभिन्न वस्तुओं की आवाज भी विभिन्न प्रकार की होती है। शीशे से बनी, लकड़ी से बनी, मिट्टी से बनी वस्तुओं की आवाज में भी विभिन्नता होती है। इसी प्रकार की ध्वनि अथवा आवाज को 'रणन' कहते हैं।

अंग्रेजी में डिङ-डाँङ घण्टे की ध्वनि को कहते हैं; अतः घण्टे की ध्वनि के सादृश्य पर मनुष्य के स्मरण से निकलने वाली ध्वनियों के लिये इस शब्द का प्रयोग किया गया है। घण्टे पर आघात करने से उत्पन्न होने वाली ध्वनि को रणन कहते हैं; उसी के आधार पर इस सिद्धान्त को रणन-सिद्धान्त (अनुरणनमूलकतावाद) कहा जाता है।

सृष्टि के आरम्भ में मनुष्य के पास वाणी नहीं थी, परन्तु संसार की विभिन्न वस्तुओं के सम्पर्क में आने पर उसके ऊपर वस्तुओं का प्रभाव पड़ा और सहज भाव से (अनायास ही) उन-उन वस्तुओं के बोधक शब्द उनके मुख से निकल पड़े। जैसे—तेज जल-प्रवाह को देखकर 'नदी' शब्द, दौड़ते पशु-विशेष को देखकर 'घोड़ा' अथवा 'कुत्ता' आदि शब्द बन गये। इस प्रकार भाषा का निर्माण हुआ और मनुष्य की उक्त सहज शक्ति समाप्त हो गयी। जिस प्रकार एक वस्तु की आवाज दूसरे वस्तु की आवाज से भिन्न होती है, उसी प्रकार एक वस्तु का वाचक शब्द दूसरे वस्तु के वाचक शब्द से भिन्न हो गया। वृक्ष-वाचक शब्द से पर्वत-वाचक शब्द, हाथीवाचक शब्द से अश्व-वाचक शब्द, गृहवाचक शब्द से वाहन-वाचक शब्द, मनुष्य-वाचक शब्द से पशुवाचक शब्द भिन्न हो गया।

समीक्षा–इस सिद्धान्त की सबसे बड़ी दुर्बलता यह है कि यह सिद्धान्त तर्कसङ्गत नहीं है, बल्कि रहस्यात्मक है। यह कितनी हास्यास्पद बात है कि मनुष्य ज्यों-ज्यों बाह्य वस्तुओं के सम्पर्क में आता गया, त्यों-त्यों वह उन-उन वस्तुओं के वाचक शब्दों का निर्माण करता गया और जब सभी वाचक शब्द बन गये तो उसकी शब्द-निर्माण की रहस्यात्मक शक्ति (उद्भासिका शक्ति) भी समाप्त हो गयी।

इस मत का न तो कोई वैज्ञानिक आधार है और न ही कोई सङ्गत आधार। यही कारण है कि आगे चलकर स्वयं मैक्समूलर ने ही इस आधारहीन सिद्धान्त का त्याग कर दिया।

वस्तुतः भाषोत्पत्ति के प्रसङ्ग में इस सिद्धान्त का उल्लेख इसलिये किया जाता है कि भाषोत्पत्तिविषयक सिद्धान्तों की शृङ्खला में अनुरणन जैसे तर्कविहीन और आधारहीन सिद्धान्तों की जानकारी हो सके।

5. मनोभावाभिव्यञ्जकतावाद-मनोरागव्यञ्जकतावाद (Pooh Theory)– कुछ लोग इस सिद्धान्त को आवेग-सिद्धान्त भी कहते हैं।

इस सिद्धान्त के अनुसार शोक-हर्ष-आश्चर्य-क्षोभ-घृणा आदि भावों के आवेग में कुछ ध्वनियाँ हमारे मुख से निकल पड़ती हैं; जैसे—'हा-हा', 'हाय-हाय' 'अहह', 'वाह-वाह' इत्यादि। ये ध्वनियाँ संवेदन या भाव की तीव्रता होने पर अपने-आप निकल पड़ती हैं। शोक या कष्ट में 'आह, ओह, हाय-हाय'; हर्ष में 'वाह-वाह'; विस्मय में 'ओ हो'; तिरस्कार में छिः-छिः, धिक्-धिक् आदि ध्वनियाँ सहज हैं। जब भाषा का पूर्ण विकास नहीं हुआ था, तब मनुष्य ऐसी ही ध्वनियों से अपने मनोभावों को व्यक्त करता रहा होगा। इस सन्दर्भ में यह ध्येय है कि यह स्वाभाविक ध्वनियाँ मनुष्य में ही नहीं, मनुष्य से भिन्न अन्य प्राणियों में भी पायी जाती हैं। प्रारम्भ में ये ध्वनियाँ हमारे मनोरोगों की ही व्यञ्जक रही होंगी, मनोविचारों की नहीं। भाषा का मुख्य उद्देश्य विचारों का प्रकाशन है; इसलिये मनोराग-व्यञ्जक ये ध्वनियाँ बाद में विचारों की द्योतक समझी जाने लगीं। इन ध्वनियों के दोहराने, कुछ देर तक बोलने तथा स्वरों के उतार-चढ़ाव द्वारा उनके अर्थ (वाच्य, अभिधेय) का क्षेत्र बड़ा हो गया। धीरे-धीरे ये ही ध्वनियाँ वर्णनात्मक स्वरूप को धारण कर मानवीय भाषा के स्वरूप को प्राप्त हो गयी होंगी। इस प्रकार आदिम काल में इन्हीं स्वाभाविक ध्वनियों पर भाषा की नींव पड़ी होगी।

समीक्षा–इसमें सन्देह नहीं कि इस सिद्धान्त का स्वल्पांश भाषा की उत्पत्ति के विषय में कुछ सीमा तक अच्छा समाधान प्रस्तुत करता है; परन्तु सिद्धान्त निम्नाङ्कित रूप से अनेक दोषों से ग्रस्त है—

1. उक्त प्रकार के शब्द आवेगात्मक तीव्रता के ही बोधक हैं। इनका सम्बन्ध

स्वाभाविक अभिव्यञ्जना से नहीं है। ये सम्प्रेषण प्रधान भाषा के सहन अङ्ग नहीं बन सकते।

2. इस प्रकार के बने शब्दों में भाषा के सम्पूर्ण शब्दों को सम्मिलित नहीं किया जा सकता। इन शब्दों के अतिरिक्त अन्य शब्द कैसे बने—यह नहीं बताया गया।

3. ऐसे शब्द संसार की अलग-अलग भाषाओं में भिन्न-भिन्न रूपों में पाये जाते हैं। अंग्रेजी में हर्ष के लिये हुर्रा (Hurrah), शोक के लिये एलास (Alas), तिरस्कार के लिये फाई (Fie) पीड़ा के लिये जर्मन में 'आउ' (Au), फ्रांसीसी में आहि (Ahi), अंग्रेजी में 'ओह' (Oh), हिन्दी में 'हाय' आदि शब्द प्रयुक्त होते हैं।

4. ऐसे शब्दों का सम्बन्ध मानसिक से अधिक शारीरिक प्रतिक्रियाओं से होता है।

5. भाषा का चिन्तन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इन आवेग-व्यञ्जक शब्दों में चिन्तन का सर्वथा अभाव है।

6. आवेगसम्बन्धी ध्वनियों को यथावत् लिपिबद्ध करना सम्भव नहीं है। जैसे— किसी पर खेद व्यक्त करते समय च-च आदि विभिन्न ध्वनि निकालते हैं; उनको कैसे लिपिबद्ध किया जा सकता है?

सारांशतः कहा जा सकता है कि यह सिद्धान्त भी भाषोत्पत्तिविषयक समस्या का समाधान करने में असमर्थ है।

6. अनुकरणमूलकतावाद (Bow-Bow Theory)–बोउ-बोउ 'भों-भों' का अंग्रेजी रूपान्तर है। इस सिद्धान्त का यह नाम मैक्समूलर ने विनोद में रख दिया। इस सिद्धान्त का वास्तविक नाम 'ओनोमेटोपिक थियरी' (Onomatopic Theory) है। कुछ लोग इसे 'एकोइक थियरी' (Echoic Theory) भी कहते हैं।

इस सिद्धान्त के अनुसार यह कल्पना की जाती है कि वस्तुओं (जड़-चेतन) का नाम उनसे उत्पन्न होने वाली प्राकृतिक ध्वनियों के आधार पर बना है अर्थात् जिस वस्तु से जिस प्रकार की ध्वनि निकली होगी, उसी के अनुकरण पर उसका नाम रख दिया गया होगा। उदाहरण के लिये हम चेतन वस्तुओं (प्राणियों) में पशु-पक्षियों आदि को ले सकते हैं। पक्षियों में 'काक', 'कुक्कुट', 'कोकिल' आदि के शब्द उसी कोटि में आते हैं। ये समस्त शब्द इन पक्षियों की बोलियों के अनुकरण से ही बनाये गये हैं। 'का-का' (काँव-काँव) करने वाले को काक, 'कू-कू' (कूहू-कूहू) बोलने (कूकने) वाले को 'कोकिल' कहा गया। पशुओं में बोली के ही अनुकरण पर बिल्ली को चीनी भाषा में मियाऊँ कहा गया, कुत्ते के भौंकने को सुनकर 'भौं-भौं' आदि शब्द बनाये गये। इसी प्रकार दर-दर (टर-टर) की ध्वनि के आधार पर दर्दुर कहा गया।

जड़ पदार्थों में जैसे झर-झर करने वाले जल-प्रवाह को निर्झर (झरना) कहा गया।

इसी प्रकार भाषा में झन-झन, कल-कल, गर्ज़न, मर्मर, गड़गड़ाहट, सनसनाहट, फड़-फड़ाना, बड़बड़ाना, हिनहिनाना, इत्यादि सैकड़ों शब्द ध्वनिसाम्य के आधार पर अस्तित्व में आये। भाषा में ध्वनिसाम्य के आधार पर बने शब्दों की भाँति चाक्षुष प्रभाव के आधार पर जगमग, चमचमाहट आदि शब्द भी अस्तित्व में आये।

उक्त तथ्यों को ध्यान में रखकर यह कहना उचित है कि प्रारम्भिक अवस्था में ध्वनि के अनुकरण पर बने ध्वन्यात्मक शब्द भाषा में उसके महत्त्वपूर्ण अङ्ग के रूप में प्रतिष्ठित हुये।

समीक्षा–1. उक्त सिद्धान्त में पूर्ण रूप से न सही, परन्तु आंशिक रूप से सत्यता अवश्य है। ध्वनि के अनुकरण पर बने शब्दों के लिये भाषा में स्थान भी है। अनुकरण के आधार पर निर्मित शब्दकोश भी बन गया होगा। इन शब्दों को बीन-रूप मानकर धीरे-धीरे भाषा के विकास को भी माना जा सकता है। परन्तु इस सिद्धान्त में खटकने वाली बात यह है कि इसमें यह मान लिया गया है कि आदि-काल में मनुष्य के पास वाणी नाम की कोई सम्पत्ति (वस्तु) नहीं थी। पशु-पक्षियों आदि के द्वारा उच्चरित ध्वनियों के अनुकरण पर किन्हीं शब्दों का निर्माण अवश्य हुआ। परन्तु इस बात को कैसे स्वीकार किया जा सकता है कि संसार में मनुष्य से पहले पशु-पक्षियों को वाणी मिली और मनुष्यों ने पशु-पक्षियों की ध्वनियों के अनुकरण पर भाषा सीखी। जब मनुष्य में बोलने की शक्ति ही नहीं थी तो उसने ध्वन्यात्मक अनुकरण कैसे किया। इस सिद्धान्त के द्वारा आंशिक रूप से तो किसी भाषा की किसी शब्दावली के बनने की बात समझ में आती है, परन्तु सम्पूर्ण भाषा की उत्पत्ति की समस्या का समाधान इससे भी नहीं होता।

2. सबसे बड़ी बात तो यह है कि संवेगात्मक (आवेगात्मक) शब्दों के समान अनुकरणात्मक शब्दों के विभिन्न भाषाओं में भिन्न-भिन्न रूप हैं। जैसे—झरना के लिये संस्कृत में 'निर्झर', हिन्दी में 'झरना', अंगेजी में 'स्ट्रीम' शब्द आदि। इससे यह स्पष्ट होता है कि विभिन्न भाषाओं में अनुकरण की एकरूपता भी नहीं रही।

3. वस्तुतः भाषाओं में उक्त प्रकार के अनुकरणमूलक शब्द भी एक सीमा तक ही प्रयुक्त होते हैं।

संपेक्षतः कहा जा सकता है कि इस सिद्धान्त से यह बात सामने अवश्य आती है कि मनुष्य ने जड़-चेतन जगत् में विद्यमान निरर्थक ध्वनियों को सार्थक शब्द के रूप में परिणत कर दिया; पर इस सिद्धान्त से भी भाषा की उत्पत्ति का समाधान नहीं हो पाता।

7. श्रमपरिहरणमूलकतावाद-(श्रमध्वनिवाद योहेहोवाद–He-Ho Theory)–इस सिद्धान्त के जन्मदाता नायर साहब हैं। उनका कहना है कि जब कोई मनुष्य परिश्रम करता है तो श्वास-प्रश्वास का वेग स्वाभाविक रूप से बढ़ जाता है और स्वरतन्त्रियों में कम्पन होने लगता है एवं उनमें आकुञ्चन (सिकुड़ना) तथा प्रसारण (फैलाव) होने लगता

है। ऐसी स्थिति में श्रम करने वाले के मुख से कुछ ध्वनियाँ स्वभावतः निकलने लगती हैं। वह श्वास-प्रश्वास के द्वारा अपनी थकान मिटाता है। ऐसे समय में उसके मुख से कुछ ध्वनियाँ भी श्रम (थकावट) को दूर करने में सहायक होती है। ध्वनियों की श्रम की परिहरण (दूरीकरण) मूलकता के कारण ही इस सिद्धान्त का नामकरण किया गया है। दृष्टान्त (उदाहरण) के द्वारा इस सिद्धान्त के तत्त्व को सुगमतापूर्वक समझा जा सकता है—

आदिकाल में जब लोग मिथक कुछ काम करते थे तो उस काम का किन्हीं ध्वनियों के साथ सम्पर्क हो जाता था; वे ही ध्वनियाँ उस काम (क्रिया) की बोधक (वाचक) बन जाती थीं। कपड़ा धोते समय धोबी 'हिच्छो-हिच्छो' या 'हिचो-हिचो' इन ध्वनियों का उच्चारण करता रहता है। इसी प्रकार भारी बोझा उठाते समय मजदूरों का दल, पालकी ढोते समय कहारों की टीम, रोलर खींचते या छप्पर उठाते समय मजदूरों का समूह किसी न किसी प्रकार की ध्वनि का उच्चारण करते हुये अपना काम करता है। ऐसे में उन्हें थोड़ी राहत मिलती है। सृष्टि के आरम्भिक काल में मनुष्य सामूहिक रूप से काम करता था। विद्वानों ने इस विषय में अपना यह मत व्यक्त किया है कि अकेले काम करने की अपेक्षा समूह में काम करना मनुष्य की सहज प्रवृत्ति है; पर सभ्यता के विकास के साथ-साथ यह प्रवृत्ति धीरे-धीरे क्षीण हो गयी। मनुष्य स्वकेन्द्रित होता गया। इसका कारण यही है कि शारीरिक कार्य तो समूह में किया जा सकता है; पर बौद्धिक नहीं। आज भी शारीरिक काम करने वाले अशिक्षित मजदूरों में अकेले काम करने की अपेक्षा सामूहिक कार्य करने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। काम करते समय, विशेष रूप से समूह में काम करते समय श्रम करने वाले लोगों के मुखों से जो समवेत स्वर में ध्वनियाँ निकलती हैं, उनसे श्रम का अपसारण (परिहार) नहीं होता; वे ध्वनियाँ स्वाभाविक होती हैं और वे श्रम या कार्य करने में सहायक होती हैं—इस मत के समर्थक विद्वान् उक्त ध्वनियों के आधार पर भाषा के अनेक शब्दों को निर्मित मानते हैं।

समीक्षा–1. विश्व की विभिन्न भाषाओं में ये शब्द सामान्यतः प्राप्त नहीं होते। भिन्न-भिन्न देशों के मजदूर भिन्न-भिन्न ध्वनियों का उच्चारण करते हैं। भारतीय मजदूर कुछ ध्वनियाँ बोलते हैं, तो अन्य देश के मजदूर कुछ।

2. उक्त शब्द सार्वदेशिक भाषाओं में अपना समान रूप से महत्त्व नहीं रखते।

3. किन्हीं-किन्ही भाषाओं में इनकी सत्ता भी नहीं है। दूसरे इस प्रकार के शब्दों की संख्या भी अत्यधिक कम है। वस्तुतः इस प्रकार के शब्द भाषा के प्रधान अङ्ग भी नहीं हैं।

4. सबसे बड़ी बात यह है कि निरर्थक ध्वनियों से सार्थक भाषा की उत्पत्ति मानना ठीक नहीं है।

8. प्रतीकवाद या इङ्गित सिद्धान्त (Gestural Theory)–विख्यात भाषा-वैज्ञानिक 'स्वीट' ने भाषा में प्रतीकात्मक शब्दों को देखकर इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इस सिद्धान्त अथवा वाद का अभिप्राय यह है कि मनुष्य ने अपने अङ्गों या आङ्गिक चेष्टाओं का वाणी के द्वारा अनुकरण कर जो ध्वनियाँ प्रस्तुत की, उन्हीं के आधार पर भाषा की उत्पत्ति हुयी। संसार की सभी भाषाओं में प्रायः मानव से सम्बन्धित क्रिया अथवा घटना के प्रतीकरूप शब्द मिल जाते हैं। ऐसी सम्भावना की जाती है कि आदिकाल में मनुष्य सङ्केतों के साथ-साथ किन्हीं विशेष प्रकार की ध्वनियों का प्रयोग करता रहा होगा और बाद में वे ही ध्वनियाँ उनकी प्रतीक बन गयी होंगी।

इस मत के अनुसार विभिन्न ध्वनियों के आधार पर शब्द बने हैं। जैसे—पीने की क्रिया के साथ होठों के हिलने से 'सिप' या 'सप' शब्द की आवाज होती है और इसी के आधार पर अंग्रेजी भाषा में 'सिप' (sip) या 'सप' (Sup) उसी क्रिया का शब्दरूप है। यदि पीने की क्रिया के साथ होठों के हिलने से 'पी' ध्वनि निकलती है तो उसी से संस्कृत का 'पिबति' (पीना) शब्द बना। लैटिन भाषा के 'बिबेर' आदि शब्द भी इसी कोटि के हैं। अरबी भाषा का अरब (पीना) शब्द भी इसी प्रकार बना है। मामा, नाना, चाचा, पापा, दन्त (दाँत), Tooth आदि शब्द भी ऐसे ही बने हैं।

समीक्षा–1. निस्सन्देह उक्त प्रकार के शब्द भाषा में मिलते हैं। परन्तु इनकी मात्रा स्वल्प ही होती है। उनसे किसी सम्पूर्ण भाषा का निर्माण सम्भव नहीं है।

2. इस मत में प्रतीक की क्रिया-प्रणाली अस्पष्ट है।

3. इसमें सबसे आपत्तिजनक बात तो यह है कि जब आदिकाल में भाषा ही नहीं थी, तो प्रतीक का निर्माण कैसे हुआ?

4. इस मत का यह भी दोष है कि दूसरों के अनुकरण की बात तो उचित प्रतीत होती है; पर अपने अनुकरण की बात हास्यास्पद लगती है। जब पशु-पक्षी भी अपने किसी अङ्ग आदि का अनुकरण नहीं करते तो बौद्धिक प्राणी कैसे करेगा?

9. समन्वित विकासवाद का सिद्धान्त–इस सिद्धान्त को हेनरी स्वीट (Henery sweet) सिद्धान्त भी कहते हैं। स्वीट के अनुसार प्रारम्भ में भाषा इङ्गित तथा ध्वनि दोनों पर आधारित थी। आगे चलकर ध्वनि-समूह से शब्दों का विकास हुआ। स्वीट के अनुसार प्रारम्भ में शब्द तीन प्रकार के थे—

1. अनुकरणमूलक

2. मनोभावाभिव्यञ्जक

3. प्रतीकात्मक।

1. अनुकरणमूलक–इस श्रेणी के शब्दों में पशु-पक्षियों की ध्वनियों के अनुकरण पर निर्मित शब्द तथा अनुकरणमूलक शब्द दोनों सम्मलित हैं। 'माऊ' शब्द 'म्याऊँ-म्याऊँ' बिल्ली की ध्वनि पर बना है और बिल्ली के लिये प्रयुक्त होता है। संस्कृत का 'काक' शब्द कौवा के 'का-का' करने के अनुकरण पर बना है। इसी प्रकार अन्य अनेक शब्द बने हैं।

2. मनोभावाभिव्यञ्जक–भावावेशव्यञ्जक 'ओह', 'आह', 'धिक्', 'वाह', 'हाय' आदि हिन्दी के शब्द, एवं पाह (Pah), फाई (Fie) आदि शब्द इसी श्रेणी के हैं। हिन्दी के 'दुरदुराना', 'धिक्कारना' आदि शब्द भी इसी कोटि में आते हैं।

3. प्रतीकात्मक शब्द–इस कोटि में वे शब्द आते हैं जो थोड़े सम्बन्ध से किसी शब्द से सम्बद्ध होकर प्रतीक या चिह्न बन जाते हैं।

हेनरी स्वीट ने उपर्युक्त तीन प्रकार के शब्दों से भाषा की उत्पत्ति स्वीकार की है।

इन शब्दों के अतिरिक्त भाषा के अन्य शब्द भी पाये जाते हैं, जिनका समावेश स्वीट के उक्त विभाजनों में नहीं होता। ऐसे शब्दों को 'औपचारिक' शब्द कहा जाता है। स्वीट यह मानते हैं कि भावाभिव्यञ्जक, अनुकरणात्मक तथा प्रतीकात्मक शब्दों से प्रारम्भ हुई है। फिर आगे उपचार के कारण शब्दों का अर्थ बनता गया और वे विकसित होते गये।

मत का विश्लेषण–अनुकरणमूलतावाद आदि सिद्धान्तों की अव्याप्ति और परिसीमा देखकर सबके समन्वय को भाषा की उत्पत्ति का आधार माना गया है। इसका अभिप्राय यह है कि किसी एक सिद्धान्त को भाषा की उत्पत्ति का आधार मानने की अपेक्षा सभी को किसी न किसी रूप में आधार मानना अधिक समीचीन है। यह मानना ठीक है कि भाषा के कतिपय शब्द किसी एक सिद्धान्त के अनुसार उत्पन्न हुये और कुछ अन्य सिद्धान्त के अनुसार अस्तित्व में आये।

इस सन्दर्भ में यह ध्यान देने योग्य है कि भाषा के शब्दों का निर्माण यदि पहले हुआ था तो वह आज भी हो रहा है। आज जैसे-जैसे ज्ञान-विज्ञान का विकास होता जा रहा है, वैसे-वैसे नयी-नयी वस्तुओं को व्यक्त करने के लिये शब्दों की आवश्यकता भी बढ़ती जा रही है। इस सन्दर्भ में यह भी ध्यान देने योग्य है कि आवश्यकतानुसार भाषा का विकास होता ही जा रहा है। पुराने शब्दों के आधार पर बनाये गये नये शब्दों को औपचारिक शब्द भी कहा जाता है।

संस्कृत में 'या' धातु का अर्थ जाना आदि है। उसी से यान, अभियान, वायुयान, जलयान, वाष्पयान, प्रयाण आदि अनेक शब्दों का निर्माण हुआ है। भाषा का यदि सूक्ष्म अध्ययन किया जाय तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि भाषा के विकास में औपचारिक शब्दों का भी बहुत सहयोग है।

यह विकास का युग है और सृष्टि के विकास में विकासवाद मान्यता प्राप्त कर चुका है। फलस्वरूप ज्ञान-विज्ञान की प्रत्येक विधा पर विचार करते समय विकासवाद के सिद्धान्त को दृष्टिगत अवश्य किया जाता है; इसलिये आज भाषा की उत्पत्ति के प्रश्न का समाधान भी भाषा-विज्ञान के विद्वान् विकासवाद के आधार पर प्रस्तुत करते हैं।

समीक्षा–समन्वय-सिद्धान्त भाषोत्पत्ति के विषय में एक समन्वित विचार उपस्थित करता है; पर उससे भी उत्पत्तिविषयक समस्या का समाधान नहीं हो पाता। यदि उपर्युक्त सभी मतों का समीक्षण किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि मतों के उपस्थापन में तत्त्व की अपेक्षा कल्पना का अधिक सहारा लिया गया है। भाषोत्पत्तिविषयक उपर्युक्त मतों की काल्पनिकता के कारण ही आज इस विषय पर विचार-विमर्श करना आवश्यक नहीं समझा जा रहा है।

विशेष–उक्त मतों के अतिरिक्त भाषा-विज्ञान में भाषोत्पत्तिविषयक 'घंटा सिद्धान्त', 'सङ्गीत सिद्धान्त', 'सम्पर्क-सिद्धान्त' प्रभृति अन्य सिद्धान्तों की चर्चा भी सुनायी देती है; पर वे नगण्य ही हैं।

परोक्ष मार्ग (Inductine Method)

भाषा की उत्पत्ति का अध्ययन करने के लिये द्वितीय पद्धति परोक्ष मार्ग है। 'ओये जै स्पर्सन' नामक विद्वान् वैज्ञानिक पद्धति से भाषा की उत्पत्ति की समस्या का समाधान करते हैं। विद्वानों का यह मत है कि भाषा के उद्‌गम तक पहुँचने के लिये भाषाओं का अध्ययन निम्नाङ्कित तीन रूपों में करना चाहिये—

1. बच्चों की भाषा द्वारा मूल भाषा की प्रकृति का ज्ञान करना।
2. प्राचीन असभ्य जातियों की भाषा का अध्ययन करना।
3. भाषाओं का ऐतिहासिक अध्ययन।

1. बच्चों की भाषा–बच्चों की भाषा का अध्ययन करते समय यह देखने में आता है कि वह (बच्चा) प्रारम्भ में कोई भाषा नहीं जानता; अपितु वह अपने हृदयगत बातों को हँसकर, प्रसन्न होकर अथवा रोकर प्रकट करता है, परन्तु बाद में थोड़ा बड़ा होने पर बच्चा अनुकरण-प्रवृत्ति के द्वारा अपने माता-पिता तथा आस-पास की भाषा को सीख लेता है। वर्तमान काल में बच्चे के लिये कोई भाषा अवश्य रहती है, जिसे वह सीखता है; किन्तु आदिकाल के मानव के पास कोई भाषा नहीं थी। वह अपने भावों को उसी प्रकार व्यक्त करता रहा होगा, जिस प्रकार भाषा सीखने के पहले बच्चा अपने भावों को प्रकट करता है। यद्यपि बच्चों की भाषा के माध्यम से भाषा के आदिम रूप के अनुसन्धान का प्रश्न प्रशंसनीय है, किन्तु आदिम मनुष्य के पास भाषा नहीं थी; जबकि आज के बच्चों के समक्ष

एक भाषा विद्यमान है। ऐसी स्थिति में बच्चों की भाषा के माध्यम से भाषा के आदिम रूप की खोज कहाँ तक सार्थक होगी, यह संदिग्ध है।

2. प्राचीन असभ्य जातियों की भाषा–असभ्य लोगों की भाषायें सभ्यों की भाषा की तुलना में कम विकसित होती हैं। असभ्य आदिवासी सभ्य संसार के सम्पर्क से दूर रहते हैं, अतः इन लोगों की भाषा का विकास नहीं हो पाता। इसीलिये इन लोगों की भाषायें विकसित भाषाओं के प्राचीन रूप को प्रकट करती हैं। दोनों भाषाओं की तुलना करने से विकसित भाषाओं में हुआ परिवर्तन भी स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है। यद्यपि असभ्य भाषाओं में भी परिवर्तन हुये हैं, परन्तु (परिवर्तन) अपेक्षाकृत कम हुये हैं। इस प्रकार असभ्य लोगों की भाषा के अध्ययन से भाषा के मूल रूप की ओर पहुँचने में सहायता मिल सकती है।

3. भाषाओं का ऐतिहासिक अध्ययन–इस पद्धति के द्वारा मूल भाषा की उत्पत्ति के विषय में सफल प्रयास किया जा सकता है। वर्तमानकालिक किसी भाषा को लेकर ऐतिहासिक अध्ययन उपयोगी हो सकता है। भारतीय भाषाओं में से ही किसी को लेकर भाषा का अध्ययन करना ठीक होगा। उदाहरणस्वरूप अपभ्रंश, प्राकृत, पालि, संस्कृत, वैदिक भाषा (संस्कृत) आदि के अध्ययन द्वारा यह जाना जा सकता है कि हिन्दी की उत्पत्ति में वैदिक संस्कृत अथवा उसका प्राचीन रूप किस प्रकार सहायक है। इस प्रकार के अध्ययन से वर्तमानकालिक योरोपीय भाषाओं की उत्पत्ति लैटिन, ग्रीक अथवा उनसे प्राचीन भाषाओं से हुई है—इस बात को जाना जा सकता है।

इस प्रकार भाषा की उत्पत्ति के विषय में उक्त प्रकार के अध्ययन से कुछ सहायता अवश्य मिल सकती है; परन्तु वास्तविकता यह है कि भाषा की उत्पत्तिसम्बन्धी समस्या का समाधान दुष्कर कार्य ही है। इस दिशा में भाषावैज्ञानिक कार्य कर रहे हैं। सम्भव है, कोई समाधान निकल जाय।

●

तृतीय अध्याय

भाषा-विज्ञान एवं व्याकरण का सम्बन्ध

'व्याकरण' पद 'वि तथा 'आङ्' उपसर्गपूर्वक करणार्थक 'कृ' ('डुकृञ्' करणे) धातु से करण-अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय लगाकर निष्पन्न होता है। व्युत्पत्ति के अनुसार जिसके द्वारा शब्दों का व्युत्पादन (प्रकृति-प्रत्ययादि-विभागपूर्वक ज्ञान) होता है, उसको 'व्याकरण' कहा जाता है—

व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम्।

वस्तुतः व्याकरण शब्दज्ञान का जनक होता है—

शब्दज्ञानजनकं व्याकरणम्।

'व्याकरण' को 'शब्दशास्त्र' आदि अनेक नामों से अभिहित किया जाता है। वेद के छः अङ्ग होते हैं—1. शिक्षा, 2. कल्प, 3. व्याकरण, 4. निरुक्त, 5. छन्द, 6. ज्योतिष।

शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दसां चितिः।
ज्योतिषामयनञ्चैवं वेदाङ्गानि वदन्ति षट् ॥

इन छः अङ्गों में छन्द को वेद का पाद (पैर), कल्प को हस्त (हाथ), ज्योतिष को चक्षु (नेत्र), निरुक्त को श्रोत्र (कान), शिक्षा को घ्राण (नासिक) तथा व्याकरण को मुख कहा गया है

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुः निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥
शिक्षा घ्राणस्तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते ॥

इन छः अङ्गों में 'व्याकरण' को वेद का मुख कहने का अभिप्राय यह है कि वह सभी अङ्गों में श्रेष्ठ है। उसकी श्रेष्ठता का सबसे बड़ा कारण यह है कि वेद-ज्ञान के लिये व्याकरण का ज्ञान अपरिहार्य है। व्याकरण-अध्ययन के पाँच मुख्य प्रयोजन कहे गये हैं—

1. रक्षा, 2. ऊह, 3. आगम, 4. लघु, 5. असन्देह—

रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्। —महा० पस्पशाह्निक।

इन पाँचों प्रयोजनों में भी वेदों की रक्षा को मुख्य प्रयोजन माना गया है। वेदों की रक्षा वही कर सकता है, जिसको वर्णों के लोप, आगम तथा विकार (परिवर्तन-आदेश) आदि का सम्यक् ज्ञान हो—

लोपागमवर्णविकारज्ञो हि सम्यग् वेदान् परिपालयिष्यतीति।

लोप आदि का ज्ञान उसी को हो सकता है, जो व्याकरण का अध्येता होगा अर्थात् जिसे व्याकरण का बोध होगा।

भाषा परस्पर सम्बद्ध वाक्यों का समूह होती है। वस्तुतः वाक्य ही भाषा का आधार होते हैं। वाक्य में अनेक पद होते हैं। पाणिनि-व्याकरण के अनुसार सुबन्त और तिङन्त शब्द को 'पद' कहते हैं। कारक की समस्त विभक्तियों को सुप् तथा क्रिया की समस्त विभक्तियों को तिङ् कहा जाता है। 'सुप्' जिसके अन्त में हो, वह 'सुबन्त' (पद) कहलाता है। जैसे—'रामः', 'पुस्तकस्य', 'ग्रामेषु' आदि। इसी प्रकार तिङ् जिसके अन्त में हो, वह 'तिङन्त' (पद) कहलाता है। जैसे—भवति, गच्छति, पठति आदि। इन्हीं (सुबन्त और तिङन्त) पदों के समूह अथवा कारक से अन्वित क्रिया को वाक्य कहते हैं—

सुप्तिङन्तचयो वाक्यं क्रिया वा कारकान्विता।

नियमानुसार अपद का प्रयोग नहीं करना चाहिये—**अपदं न प्रयुञ्जीत।** इसका अभिप्राय यह है कि पद (सुबन्त, तिङन्त) का ही प्रयोग करना चाहिये।

अन्य भाषाओं में भी कारक और क्रिया मिलकर वाक्य बनते हैं और उनके ज्ञान के लिये व्याकरण का ज्ञान आवश्यक है।

व्याकरण की इसी महत्ता और उपयोगिता को ध्यान में रखकर कोई अपने पुत्र को व्याकरण पढ़ने के लिये समझा रहा है—

यद्यपि बहु नाधीषे पठ पुत्र व्याकरणम् ।
स्वजनः श्वजनः मा भूत् सकलं शकलं सकृच्छकृत् ॥

अर्थात् 'बेटा! यद्यपि तुम बहुत नहीं पढ़े, पर व्याकरण अवश्य पढ़ो, जिससे 'स्वजन' शब्द के स्थान पर 'श्वजन' और 'सकल' के स्थान पर 'शकल' एवं 'सकृत्' के स्थान पर 'शकृत्' न हो जाय।'

पिता के इस आदेश में यह रहस्य छिपा है कि जो व्याकरण का ज्ञाता होगा, वह आत्मीयजन के लिये 'स्वजन' शब्द का प्रयोग करेगा, 'श्वजन' का नहीं; क्योंकि 'स्वजन' का अर्थ आत्मीयजन होता है और 'श्वजन' का अर्थ है— 'कुत्ता'। इसी प्रकार व्याकरणवेत्ता सम्पूर्ण के लिये 'सकल' का प्रयोग करेगा, न कि 'शकल' का। क्योंकि 'सकल' का अर्थ 'सम्पूर्ण' होता है और 'शकल' का अर्थ 'खण्ड' (टुकड़ा) होता है। इसी प्रकार वह (व्याकरणवेत्ता) एक बार के लिये 'सकृत्' शब्द का प्रयोग करेगा, न कि 'शकृत्' का; क्योंकि 'सकृत्' का अर्थ एक बार होता है और 'शकृत्' का विष्ठा (गोबर) आदि।

भाषा-विज्ञान' शब्द की व्युत्पत्ति एवं अर्थ–'भाषा-विज्ञान' में दो शब्द हैं—भाषा एवं विज्ञान। इस शब्द में षष्ठी तत्पुरुष समास है—भाषायाः विज्ञानम् = भाषाविज्ञानम् अर्थात् भाषा का विज्ञान। वस्तुतः अन्य कई संज्ञाओं की भाँति यह भी एक अन्वर्थक (सार्थक) संज्ञा (नाम) है। समस्त पद 'भाषा-विज्ञान' के दोनों घटक 'भाषा तथा 'विज्ञान' की व्युत्पत्ति आदि को समझ लेने पर इस समस्त पद का अर्थ स्वतः स्पष्ट हो जाता है।

'भाषा' शब्द, स्पष्ट बोलने—इस अर्थ से युक्त 'भाष' (व्यक्तायां वाचि) धातु से 'अ' प्रत्यय लगाकर निष्पन्न होता है। 'भाषा की परिभाषा' नामक खण्ड के अन्तर्गत इस शब्द की व्युत्पत्ति, अर्थ आदि पर प्रकाश डाला जा चुका है। संक्षेप में इतना ही कहना यथेष्ट है कि 'भाषा' का अर्थ है—'स्पष्ट वाणी'। सम्प्रति वह अंग्रेजी के 'लैंग्वेज' तथा उर्दू के 'जबान' अर्थ में प्रचलित है, जैसे—संस्कृत भाषा, अंग्रेजी भाषा, उर्दू-भाषा आदि। इस प्रकार 'भाषा' का अर्थ बोल-चाल की भाषा है।

अब रही 'विज्ञान' की बात। 'विज्ञान' शब्द 'वि' उपसर्गपूर्वक 'ज्ञा' अवबोधने धातु से 'ल्युट्' प्रत्यय लगाकर निष्पन्न होता है। अमरकोष के अनुसार 'मोक्ष' प्रदान करने वाली बुद्धि का नाम ज्ञान है—**मोक्षे धीर्ज्ञानम्**—अमरकोष 1/5/6

शिल्प (कारीगरी) अथवा शास्त्रविषयक बुद्धि का नाम 'विज्ञान' है—

अन्यत्र विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोः। वही 1/5/6

'हैम'-कोषकार कार्मण-ज्ञान को 'विज्ञान' कहते हैं—**विज्ञानं कार्मणे ज्ञाने**-इति हैमः—3/443

इसका अर्थ है—कार्मण ज्ञान 'विज्ञान' है। कार्मण शब्द जब पुँल्लिङ्ग में होता है तब वह विशेषण होता है और उसका अर्थ होता है—काम को पूरा करने वाला अथवा किसी कार्य को सुचारू रूप से करने वाला। जब वह नपुंसक लिङ्ग में होता है तब उसका अर्थ 'जादू' 'तन्त्रविद्या' होता है।

कोश-ग्रन्थों के अनुसार विज्ञान के ज्ञान, बुद्धि, जानकारी, प्रतिभा, विवेक (विवेचन), निपुणता, शिल्प एवं शास्त्रादि का ज्ञान आदि अनेक अर्थ होते हैं।

वस्तुतः विशेष अथवा विशिष्ट ज्ञान को 'विज्ञान' कहा जाता है। अमरकोष के अनुसार मोक्ष प्रदान करने वाली बुद्धि को ज्ञान तथा शिल्प (कारीगरी) अथवा शास्त्रविषयक बुद्धि को 'विज्ञान' कहा जाता है। जो भी हो, ज्ञान तथा विज्ञान में भेद को स्पष्ट करते हुये कहा जा सकता है कि किसी विषय के स्वरूप आदि का परिचय करा देना ज्ञान (सामान्य ज्ञान) के अन्तर्गत आता है, परन्तु किसी विषय के युक्तिपूर्वक अथवा तर्कयुक्त ज्ञान को विज्ञान कहते हैं। विज्ञान में हमारी दृष्टि किसी वस्तु के परिचयमात्र से संतुष्ट नहीं होती,

बल्कि वह उसके परिपूर्ण व वास्तविक ज्ञान के लिये चेष्टाशील रहती है। विज्ञान में हम स्वाभाविक रूप से ज्ञान की पिपासा की शान्ति की ओर बढ़ते हैं।

जहाँ तक भाषा के साथ 'विज्ञान' शब्द के जुड़ने का प्रश्न है, उसका अभिप्राय यही है कि 'भाषा-विज्ञान' में युक्तिपूर्वक तुलनात्मक ढंग से भाषाविषयक समस्त ज्ञान को प्रस्तुत किया जाता है। यहाँ यह ध्येय है कि भाषा-विज्ञान में 'विज्ञान' शब्द आजकल प्रचलित 'विज्ञान' शब्द के अर्थ को अपने में पूर्णतः नहीं समेटता। साधारणतः विज्ञान के नियम सर्वदेशीय होते हैं। उनका एक ही फल होता है। विज्ञान में विकल्प के लिये स्थान नहीं होता। इस प्रकार यदि यह देखा जाय तो 'भाषा-विज्ञान' विज्ञान की उस कोटि में नहीं आता, जिसमें अन्य प्राकृतिक विज्ञान आते हैं। इसके कई कारण हैं। 'भाषा' प्राकृतिक वस्तु नहीं है, अपितु वह एक सामाजिक वस्तु (संस्था) है, इसलिये वह विज्ञान की उस श्रेणी में कैसे परिगणित होगा, जिसमें अन्य विज्ञान परिगणित हैं?

संक्षेप में यह कह सकते हैं कि भाषा का विशिष्ट ज्ञान ही भाषा-विज्ञान है।

भाषा-विज्ञान का नामकरण–भाषा के व्यापक क्षेत्र में 'भाषा-विज्ञान' अत्यधिक ख्याति को प्राप्त है। जहाँ तक उसके नामकरण का प्रश्न है, उसका भी एक रोचक इतिहास है। सम्प्रति उसके नामकरण पर विचार किया जा रहा है।

आधुनिक युग में अध्ययन के विषयों में भाषा-विज्ञान को बहुत ही महत्त्व दिया जाता है। अपने अद्यतन रूप में यद्यपि भाषा-विज्ञान यूरोपीय मस्तिष्क की देन कहा जाता है, तथापि हमारे देश भारत में भी इसके अध्ययन की परम्परा अतिप्राचीन काल से उपलब्ध होती है। वैदिक काल से ही भाषा का अध्ययन हमारे यहाँ होता रहा है। शिक्षा नामक वेदाङ्ग, प्रातिशाख्य ग्रन्थ, निरुक्त, महाभाष्य एवं वाक्यपदीय के अतिरिक्त भारतीय दर्शन-ग्रन्थों तथा साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थों में भी भाषा-विचारविषयक सामग्री पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है।

यूरोप में आधुनिक भाषा-विज्ञान का श्रीगणेश सन् 1786 ई0 में 'सर विलियम जोन्स' द्वारा किया गया था, ऐसा माना जाता है। उन्होंने ही संस्कृत भाषा के अध्ययन के प्रसङ्ग में सर्वप्रथम संस्कृत, ग्रीक और लैटिन की अत्यधिक समानता तथा उनके मूल रूप में एक ही भाषा की सम्भावना को व्यक्त किया था। इस प्रकार यूरोप में आधुनिक भाषा-विज्ञान का सर्वप्रथम विचार भी भारतीय ग्रन्थों में आर्यभाषा संस्कृत की ही देन है।

यूरोप में भाषा-विज्ञान के प्रारम्भ अर्थात् सन् 1786 ई0 से लेकर आज तक भाषा-विज्ञान का नामकरण विभिन्न रूपों में किया जाता रहा है।

(1) वहाँ सर्वप्रथम इसे 'फिलॉलॉजी' (Philology) नाम से अभिहित किया गया।

(2) 18वीं शताब्दी में यही नाम प्रचलित रहा, किन्तु 19वीं शताब्दी में इस अध्ययन में तुलनात्मक अध्ययन पर अधिक ध्यान केन्द्रित हो जाने के कारण इसे 'Comparative Philology' नाम दिया गया। (3) उन दिनों भाषा-व्याकरण तथा भाषा-विज्ञान को प्रायः एक ही समझा जाता था; अतः इसे 'तुलनात्मक व्याकरण' (Comparative Grammar) भी कहा गया। (4) फ्रांस में इसको लैंगिस्तीक् (Linguistique) नाम दिया गया और वहाँ पर भाषाविज्ञान-सम्बन्धी कार्य अधिक होने के कारण, उन दिनों सम्पूर्ण यूरोप में Linguistique अथवा Linguistique नाम ही प्रचलित रहा। (5) इसी भाँति 'Science of Language' तथा 'Glottology' (Science of Tongue) भी प्रकाश में आये, किन्तु कुछ काल पश्चात् ही प्रचलन से उठ गये।

आज मात्र 'लिंगिस्टिक्स्' (Linguistics) अथवा 'फिलॉलॉजी (Philology)—ये दो नाम ही भाषा-विज्ञान के लिये सम्पूर्ण यूरोप में प्रचलित हैं।

भारत में भी उपर्युक्त यूरोपीय नामों अथवा उनके अनूदित नामों के अतिरिक्त हिन्दी भाषा में 'भाषा-तत्त्व', 'भाषा-शास्त्र', भाषा-विचार', 'भाषालोचन', भाषाविज्ञान आदि अनेक नाम प्रचलित हैं।

भाषा (भाषाविज्ञान के अध्ययन की भारतीय परम्परा–यद्यपि यह सही है कि 'भाषा-विज्ञान' पाश्चात्य, विशेषकर यूरोपीय विद्वानों के मस्तिष्क की उपज है, परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि भारत में उसके अध्ययन की परम्परा नहीं थी। वास्तविकता यह है कि अतिप्राचीन वैदिक काल में ही भाषासम्बन्धी अध्ययन की परम्परा प्रारम्भ हो चुकी थी। छः वेदाङ्गों में शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त, और छन्द—इन चार का सम्बन्ध भाषा से ही है। पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि—इन मुनित्रय के ग्रन्थ, विशेष रूप से महाभाष्य, वाक्यपदीम्, साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थ आदि इसी तथ्य का प्रकाशन करते हैं कि भारत में किसी न किसी रूप में भाषा-विज्ञान के अध्ययन की परम्परा थी।

भर्तृहरि ने तो शब्द को ब्रह्म की कोटि में प्रतिष्ठित कर दिया था—

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥—वाक्य०

भारत में निःसन्देह भाषा (भाषा-विज्ञान) के अध्ययन की सफल परम्परा थी।

भाषा-विज्ञान की परिभाषा–आज के वैज्ञानिक युग में किसी भी लोकप्रिय विषय (विज्ञान, शास्त्र आदि) को विद्वानों द्वारा परिभाषित करने का प्रयास होता है। पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों ने भी भाषा-विज्ञान की परिभाषा प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। यहाँ भाषा-विज्ञान की परिभाषाओं को प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा है।

'भाषा-विज्ञान' की व्युत्पत्ति एवं अर्थ आदि पर प्रकाश डालने से उसका बहुत कुछ स्वरूप स्पष्ट हो गया है।

1. डॉ0 पी0डी0 गुणे ने 'भाषा-विज्ञान' को 'Science of Langavage' माना है। उनके अनुसार तुलनात्मक भाषा-विज्ञान या केवल भाषा-विज्ञान 'भाषा का विज्ञान है' वस्तुतः 'फिलॉलॉजी' शब्द से किसी भाषा का साहित्यिक ढंग से अध्ययन अभिप्रेत होता है। जर्मनी में यूरोप के अन्य देशों की भाँति ही 'फिलॉलॉजी' का अर्थ अब भी किसी भी साहित्य का अध्ययन माना जाता है। डॉ0 गुणे ने जो कुछ अपना विचार व्यक्त किया है, उसका सारांश निम्नलिखित है—

(1) भाषा विज्ञान भाषाओं के विशिष्ट अध्ययन, साहित्यिक ढंग से भाषाओं का अध्ययन, किसी भी व्यक्ति के साहित्य का अध्ययन एवं विभिन्न वर्गों के भाषाओं की वर्गगत समानता और विषमता का अध्ययन है।

(2) डॉ0 मङ्गलदेव शास्त्री के मत में 'भाषा-विज्ञान' उसको कहा जाता है, जिसमें सामान्य रूप से मानवीय भाषा का, किसी विशेष भाषा और इतिहास की रचना एवं भाषाओं तथा प्रादेशिक भाषाओं के वर्गों की पारस्परिक क्षमताओं और विषमताओं का तुलनात्मक विचार किया जाता है।

(3) डॉ0 देवेन्द्रनाथ शर्मा ने भाषा-विज्ञान की परिभाषा इस प्रकार की है—'भाषा-विज्ञान का सीधा अर्थ है—भाषा का विज्ञान तथा विज्ञान का अर्थ है—'विशिष्ट ज्ञान'।

इस प्रकार डॉ0 शर्मा के अनुसार भाषा का विशिष्ट ज्ञान ही भाषा-विज्ञान कहा जाता चाहिये।

(4) प्रसिद्ध भाषाविद् डॉ0 बाबूराम सक्सेना ने भाषा-विज्ञान की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए यों लिखा है—'भाषा के तत्त्वों का अध्ययन 'भाषा-विज्ञान' है।

(5) डॉ0 श्याम सुन्दर दास ने अपनी पुस्तक 'भाषा-रहस्य' में 'भाषा-विज्ञान' की परिभाषा इस प्रकार दी है—'भाषा-विज्ञान भाषा की उत्पत्ति, भाषा की संरचना (बनावट), भाषा के विकास तथा उसके पतन (ह्रास) की वैज्ञानिक व्याख्या करता है'।

6. भोलानाथ तिवारी—भाषा-विज्ञान के तत्त्वान्वेषी 'डॉ0 भोलानाथ तिवारी' ने भाषा-विज्ञान के स्वरूप को निम्नाङ्कित रूप से प्रस्तुत किया है—

'जिस विज्ञान के अन्तर्गत वर्णनात्मक, ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन के सहारे भाषा की उत्पत्ति, गठन, प्रकृति एवं विकास आदि की सम्यक व्याख्या करते हुये, इन सभी के विषय में सिद्धान्तों का निर्धारण हो, उसे 'भाषा-विज्ञान' कहते हैं।'

उपर्युक्त परिभाषाओं का अनुशीलन कर हम यह कह सकते हैं कि भाषा-विज्ञान में

भिन्न-भिन्न भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन होता है। यह अध्ययन ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक रीति से किया जाता है। ऐतिहासिक रीति से भाषाओं की उत्पत्ति, विकास और भाषा में होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन किया जाता है। तुलनात्मक रीति से विभिन्न भाषाओं का तुलनात्मक विवेचन किया जाता है। भाषा में परिवर्त्तनीयता होती है, जो साधारण लोगों की बोलचाल में अधिक दिखाई देती है, अतः भाषा-विज्ञान में बोलियों का भी विस्तृत विवेचन किया जाता है। भाषा-विज्ञान में भी विज्ञान की भाँति ही सिद्धान्त या नियम होते हैं।

भाषा विज्ञान के अङ्ग–भाषा के अन्तर्गत सामान्यतः चार तत्त्वों का समावेश होता है—

(1) ध्वनि, (2) शब्द (पद), (3) वाक्य, (4) अर्थ।

वस्तुतः सबसे पहले मनुष्य के द्वारा ध्वनि उच्चरित होती है, फिर अनेक ध्वनियों से पद का निर्माण होता है और अनेक पदों से वाक्य की संरचना होती है और उसी से अर्थ की प्रतीति होती है। इन चारों के सम्यक् विचार के प्रसङ्ग में भाषा-विज्ञान में चार प्रकार के स्वतन्त्र शास्त्र विकसित हो गये हैं; जिनको क्रमशः ध्वनि विज्ञान (Pohonulogy), पद-विज्ञान, वाक्य-विज्ञान तथा अर्थ-विज्ञान कहते हैं।

(1) ध्वनि विज्ञान–भाषा ध्वनियों का समस्तगत रूप होती है। अतः भाषा के अध्ययन में इस विभाग का प्रमुख स्थान है। इसके भी दो भेद होते हैं—स्वन-विज्ञान (Phonetics) और स्वन-ग्राम-विज्ञान।

(क) स्वन-विज्ञान–इसका सम्बन्ध भाषा की ध्वनियों से होता है। इसके अन्तर्गत ध्वनि के उच्चारण-अवयवों तथा समस्त पद्धतियों का अध्ययन किया जाता है। इसमें भाषा-ध्वनियों के उच्चारण और परिवर्तन के अतिरिक्त ध्वनिपरिवर्तन के कारणों आदि का भी विचार होता है।

(ख) स्वन-ग्राम-विज्ञान (Phonemics)–इसके अन्तर्गत वाक्य में प्रयुक्त ध्वनि-स्थिति का अध्ययन होता है। इस शाखा के अन्तर्गत लघुतम अर्थवान् ध्वनि-इकाई अध्ययन का विषय बनती है।

(2) पद-विचार–यह एक प्रकार से शब्दों का व्याख्यात्मक विश्लेषण है। संस्कृत व्याकरण में सुबन्त और तिङन्त को 'पद' कहा जाता है। सुबन्त के अन्तर्गत समस्त कारक-पद आ जाते हैं और तिङन्त के अन्तर्गत सारे क्रिया-पद। इस प्रकार यह कहा जाता है कि पद-विचार (पद-विज्ञान) पदों और शब्दरचना में उनके क्रम का अध्ययन करता है।

(3) वाक्य-विचार (Syntax)–किसी पूर्ण भाव का द्योतन करने वाले शब्द

अथवा शब्दों के समूह (पद-समूह) को वाक्य कहा जाता है। इसके अन्तर्गत वाक्य में शब्दों के क्रम और उनके परस्पर सम्बन्ध पर विचार किया जाता है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि वाक्यविचार के अन्तर्गत वाक्यों की रचना, गठन तथा रचनासम्बन्धी नियमों का अध्ययन होता है।

(4) अर्थ-विचार (Semantics or Semosiology)–इस शाखा के अन्तर्गत शब्दों के अर्थ तथा शब्द और अर्थ के सम्बन्ध पर विचार किया जाता है। शब्दों के अर्थ-परिवर्तन के विकास तथा इतिहास का क्रमबद्ध अध्ययन भी इसी शाखा के अन्तर्गत होता है। एक प्रकार से अर्थ के समस्त परिवर्तन और विकास इसी विभाग के अन्तर्गत आते हैं।

ऊपर भाषा के (भाषा-विज्ञान के) मुख्य अङ्गों का संक्षिप्त विचार किया गया। इनके अतिरिक्त उसका गौण-विभाग भी है, जिसके अन्तर्गत शब्द-समूह, व्युत्पत्ति-शास्त्र, भाषा का उद्‌गम, भाषाओं का वर्गीकरण, लिपि, भाषा के विविध रूप (बोली आदि) विचार के विषय बनते हैं।

भाषा-विज्ञान की शाखायें–विद्वानों ने भाषा-विज्ञान की शाखाओं को भी अपने विचार का विषय बनाया है। भाषा-विज्ञान किसी भाषा के कारण-कार्य-मूलक युक्तिपूर्ण विवेचन-विश्लेषण के लिये कुछ निश्चित प्रक्रियाओं में बँधकर चलता है। इन्हीं प्रक्रियाओं के आधार पर अभी तक भाषा-विज्ञान के अध्ययन के तीन प्रकार प्राप्त होते हैं। इन्हीं तीनों प्रकारों को भाषा-विज्ञान की तीन शाखायें भी कहा जाता है—

(1) वर्णनात्मक

(2) ऐतिहासिक

(3) तुलनात्मक

(1) वर्णनात्मक भाषाविज्ञान–इसमें किसी एक की किसी एक ही काल के स्वरूप की व्याख्या या वर्णन रहता है। किसी विशेष काल में किसी भाषा में कितनी ध्वनियाँ थीं? पदरचना कैसी थी? वाक्य-रचना कैसी थी? इत्यादि का विस्तार से वर्णन किया जाता है। इस प्रकार के अध्ययन से हमें उस विशिष्ट भाषा का पूर्ण परिचय प्राप्त हो जाता है।

वस्तुतः इसमें भाषा के स्वरूप का वर्णन या विश्लेषण रहता है। वर्णनात्मक भाषा विज्ञान को ही दूसरे शब्दों में 'व्याकरण' कहते हैं।

(2) ऐतिहासिक भाषाविज्ञान–इसमें किसी एक भाषा का, उसके विभिन्न अङ्गों—ध्वनि, पदरचना, वाक्यरचना आदि के क्रमिक विकास का अध्ययन किया जाता है। इस प्रकार के अध्ययन में हमें किसी भाषा के प्राचीन काल से लेकर आजतक के

साहित्यिक, असाहित्यिक (बोलचाल) अथवा मृत (अप्रयुक्त) आदि रूपों का परिचय मिल जाता है। भाषा के इस प्रकार के ऐतिहासिक अध्ययन में प्राचीन साहित्य, पुरातन ग्रन्थ तथा शिलालेख आदि सभी हमारे अध्ययन के साधन बन जाते हैं।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि वर्णनात्मक भाषा-विज्ञान में किसी भाषा के काल-विशेष के स्वरूप का अध्ययन किया जाता है; पर ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान में एक ही भाषा के विभिन्न कालों के स्वरूप का अध्ययन होता है।

(3) तुलनात्मक भाषाविज्ञान–इसमें किन्हीं दो या दो से अधिक भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। जिन भाषाओं को अध्ययन का विषय बनाया जाता है, उनके विभिन्न अंगों की तुलना किसी एक काल के आधार पर अथवा विभिन्न कालों के आधार पर की जाती है। तुलनात्मक प्रणाली में वर्णनात्मक एवं ऐतिहासिक प्रणालियों का अन्तर्भाव हो जाता है। दोनों के समन्वय से इसका जन्म होता है।

भाषा विज्ञान का अन्य विज्ञानों, शास्त्रों, विषयों से सम्बन्ध–भाषाविज्ञान मनुष्य के वाग् व्यापारों (वाणी-व्यापारों) का सम्यक् विवेचन करता है। वाणी-व्यापारों पर जिन-जिन परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है, उनको दृष्टिगत किये विना भाषा का सर्वाङ्गपूर्ण अध्ययन सम्भव नहीं है। अतः मनुष्य से सम्बन्धित होने के कारण जिन-जिन विषयों से क्रिया-कलाप उत्पन्न (अथवा प्रभावित) होते हैं, उन सभी विषयों से 'भाषा-विज्ञान' का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष सम्बन्ध हो जाता है। 'भाषा-विज्ञान' के अध्ययन में उन-उन विषयों का अध्ययन भी सहायक होता है। वास्तविकता यह है कि स्वयं भाषाविद् भी उन विषयों से लाभान्वित होता है। ज्ञान की कुछ शाखायें तो परस्पर इतनी सम्बद्ध (अन्योन्याश्रित) होती हैं कि एक-दूसरे के अभाव में उनका ज्ञान अपूर्ण ही रहता है।

इस सन्दर्भ में यह ध्येय है कि 'भाषा-विज्ञान' का अन्य शास्त्रों अथवा ज्ञान की शाखाओं से जितना सम्बन्ध है, उसकी अपेक्षा व्याकरण से अधिक है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में डॉ0 बाबूराम सक्सेना का यह कथन विचारणीय है—'जैसे किसी व्याकरण का ज्ञान उस भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन के लिये उपादेय है, उसी प्रकार कई भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण तत्सम्बन्धी 'भाषा-विज्ञान' के लिये। इसीलिये 'भाषा-विज्ञान' को व्याकरणों का व्याकरण या 'तुलनात्मक व्याकरण' या विवरणात्मक व्याकरण' कहा जाता है।

सर्वप्रथम 'भाषा-विज्ञान और व्याकरण के सम्बन्ध' पर विचार अभिप्रेत है—

भाषा एवं व्याकरण का सम्बन्ध–भाषा-विज्ञान और व्याकरण दोनों का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है, क्योंकि दोनों ही भाषा के स्वरूप का विवेचन करते हैं। दोनों में साम्य और अन्तर दोनों है। किसी क्षेत्र में दोनों में समता है तो किसी क्षेत्र में विषमता। भाषा की प्रारम्भिक अवस्था में यूरोप में भाषा-विज्ञान का नामकरण 'तुलनात्मक व्याकरण' ही किया

गया था। 'व्याकरण' शब्द की व्युत्पत्ति बताकर उसके स्वरूप का परिचय देता है, जब कि 'भाषा-विज्ञान' भाषा का वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत करता है।

दोनों में समानतायें एवं परस्पराश्रयता–पर विचार निम्नलिखित है—

(1) भाषा-विज्ञान तथा व्याकरण दोनों ही भाषा का अध्ययन प्रस्तुत करते हैं।

(2) भाषा-ज्ञान के जिज्ञासु लोगों के लिये जिस प्रकार भाषा के नियमों की जानकारी के लिये व्याकरण की आवश्यकता है, उसी प्रकार व्याकरण के नियमों की जानकारी तथा व्यवस्था के लिये भाषा-विज्ञान की आवश्यकता है।

(3) भाषा-विज्ञान और व्याकरण के इतिहास को देखने से यह तथ्य प्रकाश में आ जाता है कि दोनों का प्रारम्भिक काल उनकी (दोनों की) घनिष्ठता तथा समानता का द्योतक है।

(4) व्याकरण के तीन भेद किये जाते हैं—(1) समकालिक, (2) ऐतिहासिक और (3) तुलनात्मक। ये ही भेद भाषा-विज्ञान से भी सम्बन्धित हैं।

समकालिक व्याकरण में सभी भाषाओं के मौलिक सिद्धान्तों तथा तत्त्वों का विश्लेषण किया जाता है।

ऐतिहासिक व्याकरण में भाषा के अर्थ, रूप आदि में होने वाले परिवर्तनों का ऐतिहासिक रीति से अध्ययन किया जाता है।

तुलनात्मक व्याकरण ऐतिहासिक व्याकरण के कार्यों की तुलना के लिये उसी भाषा या पूर्ववर्ती भाषा अथवा सजातीय भाषाओं का तुलनात्मक परीक्षण करता है। इस प्रकार दोनों में कोई भेद नहीं है।

(5) भाषा-विज्ञान और व्याकरण एक-दूसरे के उपकारी भी हैं। भाषा-विज्ञान भाषा की तात्त्विक एवं वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करता है, जिससे व्याकरण उपकृत होता है।

व्याकरण जिन रूपों को अशुद्ध मानता है, वे ही भाषा-विज्ञान के द्वारा विवेचित होने पर कालान्तर में शुद्ध मानकर आत्मसात् कर लिये जाते हैं। इस प्रकार व्याकरण को एक दृष्टि मिलती हैं। विभिन्न भाषाओं के व्याकरणों द्वारा प्रस्तुत सामग्री के सहारे भाषा-विज्ञान नियम-निर्धारण में सफल होता है, जिससे व्याकरण के कार्य को व्यापकता मिलती है।

दोनों में अन्तर–व्याकरण एक प्रकार से पुरातनतावादी या प्रतिक्रियावादी शास्त्र है, इसके विपरीत भाषा-विज्ञान प्रगतिशील शास्त्र है।

व्याकरण जब किसी साधु प्रयोग (शिष्ट जनोचित) प्रयोग को स्थिर कर देता है तो उसके बाद उस शब्द में होने वाले परिवर्तन या विकास को अमान्य घोषित कर देता है।

उसकी दृष्टि में उक्त प्रकार का परिवर्तन भाषा का पतन है। यही कारण है कि संस्कृत के बाद विकसित होती हुयी भाषा को संस्कृत के पण्डितों ने प्राकृत (अर्थात् जनता की भाषा) तथा उसके भी विकसित रूप को अपभ्रंश (शुद्धता से गिरी हुई अर्थात् अशुद्ध) नाम दे दिया, जो स्पष्टतः तिरस्कारसूचक है।

इसके विपरीत भाषा-विज्ञान का दृष्टिकोण प्रगतिशील है; क्योंकि वह प्रगतिशील शास्त्र है। वह भाषा के परिवर्तन को 'पतन' न कहकर 'विकास' की संज्ञा देता है। हम उदाहरण के लिये संस्कृत के 'सर्व' शब्द को ले सकते हैं। संस्कृत का यह 'सर्व' शब्द आगे चलकर 'सब्ब' और फिर वह 'सब' इस रूप में परिवर्तित हो गया।

भाषा-विज्ञान इसको स्वाभाविक विकास मानता है, पतन नहीं। किन्तु कोई संस्कृत वैयाकरण 'सब्ब' या 'सब' शब्द को 'असाधु' कहकर उसे संस्कृत में स्थान नहीं देगा।

भाषा-विज्ञान किसी भी भाषा के शब्दों के इतिहास का परिचय देकर उसके विभिन्न रूपों एवं ध्वनि-परिवर्तनों का कारण प्रस्तुत करता है।

इसके विपरीत व्याकरण भाषाविशेष के शब्दों की एकरूपता को स्थिर करता है। व्याकरण का उद्देश्य किसी विशेष भाषा के व्यावहारिक उपयोग को दृष्टि में रखकर, व्यवहारोपयोगी साधुत्व-असाधुत्व का सामान्य ज्ञान होता है। वाक्यपदीयकार भर्तृहरि कहते हैं कि व्याकरण-स्मृति साधुत्व का ज्ञान कराने वाली है—

साधुत्वज्ञानविषया सैषा व्याकरणस्मृतिः। (वाक्यपदीय 2/143)

इस प्रकार 'व्याकरण' भाषा-विज्ञान' का अनुगामी है। किसी भाषा के व्याकरण को जानने के लिये किसी दूसरी भाषा के ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। व्याकरण भाषा के प्रचलित रूपों के सम्बन्ध में ही चर्चा करता है। पर भाषा-विज्ञान में भाषाओं के अतीत, वर्तमान एवं भावी रूप का अध्ययन होता है।

'भाषा-विज्ञान' नये विकासों का भी लेखा-जोखा लेता चलता है। बाद में व्याकरण उन्हें साधु मानता है।

(4) व्याकरण 'क्या' का जवाब देता है अर्थात् वह भाषा के प्रचलित रूपों के सम्बन्ध में चर्चा करता है। किसी शब्द की व्युत्पत्ति क्या है? इसको बताता है। वह क्यों का जवाब नहीं देता। वह (व्याकरण) जिन शब्दरूपों की साधुत्व-प्रक्रिया प्रस्तुत करता है, वे रूप कैसे, क्यों और कब बने—इसका उत्तर नहीं देता। व्याकरण 'एकादश' शब्द को शुद्ध और 'एकदश' शब्द को अशुद्ध मानता है। परन्तु ऐसा क्यों होता है? इस जिज्ञासा की शान्ति वह नहीं करता।

उक्त के विपरीत 'भाषा-विज्ञान' प्रश्नों अथवा जिज्ञासाओं का समाधान प्रस्तुत करता

है। भाषा-विज्ञान यह स्पष्ट करता है कि 'एकदश' रूप कभी शुद्ध रहा होगा, परन्तु 'द्वादश' के सादृश्य पर उसका 'एकादश' रूप बन गया होगा।

(5) संक्षेप में कहा जा सकता है कि भाषा की व्यवस्था-विशेष का नाम व्याकरण है, जिसको कुछ लोग 'कला' कहते हैं; परन्तु इसके विपरीत 'भाषा-विज्ञान' ऐतिहासिक, तुलनात्मक एवं विश्लेषणप्रधान होने के कारण विज्ञान है।

वस्तुतः 'व्याकरण' शास्त्र या कला है; इसके विपरीत भाषा-विज्ञान 'विज्ञान' है।

(6) भाषा-विज्ञान एवं व्याकरण का एक प्रमुख अन्तर यह है कि 'व्याकरण' भाषा के सिद्ध स्वरूप को सिखाता है। वह सिद्ध स्वरूप के कारण का अन्वेषण नहीं करता। महाभाष्यकार पतञ्जलि शब्द, अर्थ तथा उन दोनों के सम्बन्ध को सिद्ध मानते हैं—'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे। परन्तु 'भाषा-विज्ञान' शब्द, अर्थ आदि को सिद्ध नहीं मानता।

(7) उदाहरणस्वरूप हम गवेषणा, कुशल, गोष्ठ आदि शब्दों को ले सकते हैं। पूर्व में तीनों शब्द क्रमशः गाय की इच्छा, कुश को लाने वाला, गायों के बैठने का स्थान—इन अर्थों के वाचक थे; पर वे बाद में क्रमशः अनुसंधाननिपुण तथा गोष्ठी (सभा) के वाचक कैसे बन गये? इन प्रश्नों का उत्तर व्याकरण नहीं देता।

किन्तु उक्त के विपरीत भाषा-विज्ञान, शब्द, अर्थ और उसके सम्बन्ध को सिद्ध नहीं मानता। अपितु वह शब्दों के वर्तमान सिद्ध रूप के कारणों की खोज करता है।

इस सन्दर्भ में संक्षेप में कहा जा सकता है कि व्याकरण भाषा के निष्पन्न (सिद्ध) स्वरूप को बताता है, इसके विपरीत भाषा-विज्ञान उस स्वरूप के कारण (मूल) की खोज करता है।

(8) व्याकरण का सम्बन्ध भाषाविशेष से होता है और उसमें भी कालविशेष से, अर्थात् व्याकरण किसी एक भाषा के एक काल में प्रचलित रूपों को नियमबद्ध करता है।

इसके विपरीत भाषा-विज्ञान का सम्बन्ध भाषामात्र से अर्थात् सभी भाषाओं से होता है। उसके नियम भी व्यापक और स्थायी होते हैं। व्याकरण तुलनात्मक हो सकता है। किन्ही दो भाषाओं, जैसे 'संस्कृत' और 'लैटिन' की तुलना की जा सकती है; किन्तु वह तुलना भी भाषा-विशेष की ही होगी और साथ ही कालविशेष की भी।

(9) 'व्याकरण' विवरणात्मक या वर्णनात्मक होता है, जबकि 'भाषा-विज्ञान' व्याख्यात्मक और विश्लेषणात्मक होता है अर्थात् वह भाषासम्बन्धी नियमों और परिवर्तनों में कार्य-कारण भाव स्थापित करने का प्रयास करता है। इस तथ्य को कतिपय उदाहरणों द्वारा समझा जा सकता है—

(क) हिंन्दी-व्याकरण के अनुसार 'आय' शब्द स्त्रीलिङ्ग है और 'व्यय' शब्द पुँल्लिङ्ग। दोनों शब्द संस्कृत में पुँल्लिङ्ग हैं। हिन्दी का व्याकरण नहीं बता सकता कि

पुँल्लिङ्ग का 'आय' शब्द हिन्दी में स्त्रीलिङ्ग कैसे हो गया? जबकि 'व्यय' शब्द पुँल्लिङ्ग ही रह गया।

पर भाषा-विज्ञान इसका समाधान कर सकता है। वह यह है कि 'आय' शब्द के लिङ्ग पर फारसी के स्त्रीलिङ्ग के (आमद) शब्द का प्रभाव है, जो स्त्रीलिङ्ग है। वस्तुतः फारसी के पूर्व संस्कार से 'आय' को स्त्रीलिङ्ग बना दिया गया; जबकि उसे व्यय, समय, अन्वय आदि की भाँति पुँल्लिङ्ग में ही रहना चाहिये।

(ख) हिन्दी का व्याकरण 'पुस्तक' शब्द को स्त्रीलिङ्ग कहता है, पर उसका कारण नहीं बताता। संस्कृत का 'पुस्तक' शब्द नपुसंक लिङ्ग है। नियमतः हिन्दी में उसका उपयोग पुँल्लिङ्ग में होना चाहिये; परन्तु अरबी के 'किताब' शब्द के प्रभावस्वरूप वह स्त्रीलिङ्ग में व्यवहृत हो रहा है, क्योंकि 'किताब' शब्द अरबी में स्त्रीलिङ्ग है।

उक्त कारणों से 'भाषा-विज्ञान' को व्याकरण का भी व्याकरण कहा जाता है और ऐसा कहना निराधार नहीं है; क्योंकि व्याकरण द्वारा निर्दिष्ट नियमों का 'भाषा-विज्ञान' सकारण विवेचन करता है।

(10) दोनों में अङ्गाङ्गि-भाव सम्बन्ध—अर्थात् भाषाविज्ञान अङ्गी है और व्याकरण अङ्ग है। भाषा-विज्ञान में समस्त भाषाओं का अध्ययन होता है, वह विभिन्न भाषाओं के अतीत, वर्तमान एवं भविष्य के रूप का सामान्यतः विवेचन करता है, उसके नियम यथासम्भव अन्य भाषाओं पर भी लागू हो सकते हैं।

इसके विपरीत व्याकरण किसी एक ही भाषा के वर्तमान रूप पर विचार और तत्सम्बन्धी नियमन करता है। वह किसी दूसरी भाषा के लिये नियम-निर्धारण नहीं कर सकता।

अतः प्रधान होने के कारण भाषा-विज्ञान अङ्गी है और व्याकरण उसके एक भाग का विवेचन करने के कारण 'अङ्ग' है।

(11) अध्ययनसामग्रीसम्बन्धी अन्तर—भाषामात्र का अध्ययन करने के कारण 'भाषा-विज्ञान' का क्षेत्र व्यापक है; इसके विपरीत किसी एक भाषाविशेष को ही अपने अध्ययन का क्षेत्र बनाने के कारण व्याकरण की सीमायें सीमित हैं।

वर्तमान युग में व्याकरण के मुख्य विवेचनीय विषय भाषा की रूप-रचना (शब्द-साधुत्व) आदि हैं; परन्तु भाषा-विज्ञान ध्वनि, अर्थ, व्युत्पत्ति आदि समेत लिपि का भी विवेचन करता है।

व्याकरणेतर शास्त्रों से सम्बन्ध

'भाषा-विज्ञान' एवं व्याकरण के सम्बन्ध पर विचार करने के पश्चात् अन्य शास्त्रों

(विज्ञानों-विषयों) के सम्बन्ध पर विचार वाञ्छनीय है—

(1) भाषा-विज्ञान और मनोविज्ञान–भाषा का मनोविज्ञान से अटूट सम्बन्ध है। मनोविज्ञान के सिद्धान्तानुसार मनुष्य के सभी कार्य उसकी अदम्य इच्छा के फलस्वरूप होते हैं। भाषा की प्रेरणा भी इसी प्रकार होती है। भाषा-विज्ञान की वह शाखा जिसमें अर्थविचार होता है, मनोविज्ञान से प्रभावित होती है। मनोविज्ञान ही भाषा में होने वाले क्रमिक परिवर्तनों के कारणों पर प्रकाश डालता है।

भाषा-विज्ञान और मनोविज्ञान दोनों विज्ञान हैं। एक में यदि भाषा का अध्ययन किया जाता है, तो दूसरे में मानवमन का। भाषा और मन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। भाषा मनुष्य के विचारों और भावों का वाहन है। मनुष्य के भावों और विचारों का उसकी भाषा पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। जिस प्रकार भाषा-विज्ञान के अध्ययन में मनोविज्ञान सहायक होता है, उसी प्रकार मनोविज्ञान के अध्ययन में भाषा-विज्ञान से सहायता मिलती है।

सचमुच विभिन्न देश-कालों में मानव-मनोविज्ञान को समझने में भाषा-विज्ञान का योगदान महत्त्वपूर्ण होता है।

(2) भाषा-विज्ञान तथा दर्शन–आत्मा-परमात्मा, जीवन-मृत्यु आदि आध्यात्मिक क्षेत्र के रहस्यों का विचार दर्शन में होता है। आध्यात्मिक विषयों के मनन और चिन्तन में भाषा उपयोगी होती है। यही कारण है कि शब्द और अर्थ के सम्बन्ध पर विचार करने वाले प्रायः सभी भारतीय मनीषी दार्शनिक थे। पतञ्जलि तथा भर्तृहरि जैसे वैयाकरणों ने तो भाषा पर दार्शनिक दृष्टि से विचार किया है। 'स्फोटवाद' का सिद्धान्त, 'शब्दब्रह्म' की कल्पना आदि सभी विषय दर्शन के क्षेत्र से सम्बद्ध हैं।

पश्चिमी देशों में भी प्लेटो, अरस्तू आदि दार्शनिकों ने शब्द और अर्थ पर यथेष्ट विचार किया है।

(3) भाषा-विज्ञान और इतिहास–भाषा-विज्ञान तथा इतिहास का परस्पर स्वाभाविक सम्बन्ध है। दोनों एक-दूसरे को समझने में सहायक हैं। पद-विकास, ध्वनि-विकास, अर्थ-विकास आदि को समझने में इतिहास भाषा-विज्ञान का मार्गदर्शन करता है।

भाषा-विज्ञान के अन्तर्गत अनेक प्राचीन भाषाओं के अध्ययन से विभिन्न देश-कालों के इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। आर्यों की प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति आदि के इतिहास-ज्ञान में भाषा-विज्ञान का योगदान सर्वविदित है। प्राचीन इतिहास और पुरातन संस्कृति के अनेक महत्त्वपूर्ण अंश भाषा-विज्ञान की कृपा से प्राप्त हुये हैं।

(4) भाषा-विज्ञान और साहित्य–प्राचीन भाषाओं के अध्ययन के लिये भाषा-वैज्ञानिक को साहित्य का सहारा लेना पड़ता है। संस्कृत, पालि, अवेस्ता, प्राचीन फारसी

आदि के साहित्य यदि न होते तो भाषा-विज्ञान किस आधार पर अपने अध्ययन का श्रीगणेश करता।

साहित्य में प्राचीन पाठों को स्थिर करने में, उनके रूपों को समझने में भाषा-विज्ञान पर्याप्त सहायता करता है; इस तथ्य को विद्वद्वृन्द अच्छी प्रकार जानता है।

(5) भाषा-विज्ञान तथा भूगोल–किसी देश अथवा स्थान के रहने वाले मनुष्य पर भौगोलिक वातावरण का प्रभाव विशेष रूप से पड़ता है। मनुष्य की भाषा भी मनुष्य के विशिष्ट भौगोलिक वातावरण से प्रभावित हुये विना नहीं रह सकती। भाषा-विज्ञान के अन्तर्गत जिन भाषाओं का अध्ययन किया जाता है, उनका प्रयोग-क्षेत्र निर्धारित करने में भूगोल से सहायता मिलती है। भाषागत परिवर्तनों की गति का निर्धारण भी भूगोल की सहायता से किया जाता है। शब्दों के अर्थ और ध्वनिपरिवर्तन पर भी भूगोल का प्रभाव पड़ता है। शीत और उष्ण प्रदेश के निवासियों के शब्दोच्चारण में भौगोलिक वातावरण का प्रभाव पड़ता है। प्राचीन भूगोल अथवा ऐतिहासिक भूगोल का ज्ञान प्राप्त करने में भाषा-विज्ञान के द्वारा सहायता मिलती है। भाषा-वैज्ञानिक भूगोल से भी भाषा-विज्ञान और भूगोल के सम्बन्धों पर प्रकाश डालता है।

(6) भाषा-विज्ञान और समाजशास्त्र–भाषा-विज्ञान के विद्यार्थी को भाषा के विकास के कारणों और अवस्थाओं के ज्ञान के लिये समाज-शास्त्र से सहायता लेनी पड़ती है। एक ही शब्द का दो कालों में, दो विपरीत अर्थों में प्रयोग क्यों होता है? इन सबके ज्ञान से देश-काल की मनोवृत्ति का पता चलता है। इस तरह यह निर्विवाद है कि समाजशास्त्र भाषा-विज्ञान की सहायता करता है।

(7) भाषा-विज्ञान और तर्कशास्त्र–यद्यपि भाषा का तर्कशास्त्र से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है, परन्तु शब्दों के ऐतिहासिक रूपों के अध्ययन में उसकी (तर्कशास्त्र की) सहायता लेनी पड़ती है। तर्कशास्त्र के साथ भाषा के सम्बन्ध का साधक तर्क यह भी है कि समस्त तर्क भाषा के माध्यम से उपस्थित किये जाते हैं। इस सन्दर्भ में यह कहना समीचीन है कि भाषा-विज्ञान का तर्कशास्त्र के साथ उतना गहरा सम्बन्ध नहीं है; जितना कि मनोविज्ञान, साहित्य आदि के साथ है।

(8) भाषा-विज्ञान और शरीर-विज्ञान–भाषा की ध्वनियों का उत्पादन मुख से तथा ध्वनियन्त्रों की सहायता से होता है। मुख और ध्वनियन्त्रों के द्वारा उत्पन्न की गयी ध्वनियों का ग्रहण कान आदि शरीर के अङ्गों से होता है। लिखित भाषा को देखने के लिये आँख और बोली जाने वाली भाषा के ग्रहण के लिये कान की आवश्यकता होती है। ये दोनों इन्द्रियाँ शरीर की अङ्गभूत हैं। इस प्रकार भाषा-विज्ञान का शरीर-विज्ञान से सम्बन्ध है।

(9) भाषा-विज्ञान और भौतिक-विज्ञान–मुख से निकली हुयी ध्वनि किस

प्रकार कान तक पहुँचती है? शब्दोच्चारण से कान में क्या कम्पन होता है? इन प्रश्नों का उत्तर भौतिक विज्ञान ही दे सकता है।

प्रयोगात्मक स्वन-विज्ञान (Phonetics)—यह सर्वविदित ही है कि स्वन विज्ञान के प्रयोगात्मक पक्ष के कारण ही भाषा की ध्वनियों के मूल तत्त्वों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त हो सका है। इस प्रकार यह निर्विवाद ही है कि ध्वनियों के अध्ययन में भौतिक विज्ञान एक सीमा तक सहायक है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त ज्ञान-विज्ञान की शाखाओं से भाषा-विज्ञान का न्यूनाधिक रूप में सम्बन्ध है। उक्त के अतिरिक्त अन्य शाखाओं के साथ प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्बन्ध को भी नकारा नहीं जा सकता।

●

चतुर्थ अध्याय

वैदिक संस्कृत (भाषा) एवं लौकिक संस्कृत

जिस प्रकार संस्कृत-वाङ्मय की प्राचीनता, सर्वाङ्गपूर्णता, विशालता तथा गौरवपूर्णता के विषय में किसी को सन्देह नहीं है, उसी प्रकार संस्कृत भाषा की प्राचीनता, वैज्ञानिकता परिशुद्धता, अभिव्यक्तिक्षमता आदि के विषय में भी कोई सन्दिग्ध नहीं है। जहाँ तक उसकी (संस्कृत भाषा की) गतिशीलता का प्रश्न है, वह तो वैदिक काल से लेकर अद्यावधि सतत गतिशील है; उसमें निबद्ध वैदिक साहित्य यदि गौरवमण्डित है तो लौकिक साहित्य भी सर्वथा प्रशस्य तथा महनीय है। उक्त दोनों (वैदिक साहित्य तथा लौकिक साहित्य) के पर्यवेक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक भाषा एवं लौकिक साहित्य की भाषा में अन्तर है। वैदिक भाषा तथा लौकिक संस्कृत का सूक्ष्म तुलनात्मक अध्ययन करने से दोनों का भेद स्पष्ट हो जाता है। वैदिक भाषा व्याकरण के नियमों से उस प्रकार नहीं बँधी है, जिस प्रकार लौकिक संस्कृत बँधी है। वैदिक भाषा एवं लौकिक भाषा में अन्तर होने के कारण दोनों के व्याकरणगत नियमों में भी अन्तर का होना स्वाभाविक है। लौकिक भाषा की भाँति, वैदिक भाषा के व्याकरण नियमों से सर्वाशतः नियन्त्रित न रहने के कारण ही, 'बहुलं छन्दसि' इत्यादि नियमों का विधान करना पड़ा। वैदिक-वाङ्मय के सम्यक् ज्ञान के लिये वैदिक वर्णों (स्वरों एव व्यञ्जनों), शब्दरूपों, सन्धियों, धातुरूपों आदि का ज्ञान सर्वथा अपरिहार्य है। वैदिक भाषा में स्वराघात का भी महनीय स्थान है, अतः तद्विषक जानकारी के विना वैदिक मन्त्रों का अवबोध नहीं हो सकता। सम्प्रति दोनों भाषाओं के विभिन्न अन्तरों के साथ यथासम्भव वैदिक व्याकरण की भिन्नता तथा उसकी स्वरादिसम्बन्धी विशेषता पर भी प्रकाश डालना प्रासङ्गिक है।

सबसे पहले वैदिक भाषा एवं लौकिक संस्कृत में निबद्ध साहित्य की संक्षिप्त रूप-रेखा पर प्रकाश डालते हुये, संस्कृत-वर्णमाला का परिचय देकर तदनन्तर दोनों (वैदिक भाषा एवं लौकिक संस्कृत) के विभिन्न विषयक अन्तरों को यथासम्भव सोदाहरण स्पष्ट किया जायगा।

वैदिक भाषा एवं लौकिक संस्कृत में विरचित साहित्य–संस्कृत-वाङ्मय को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—

1. वैदिक वाङ्मय (साहित्य)

2. लौकिक साहित्य

इन्हीं दो भागों के आधार पर भाषा भी वैदिक भाषा एवं लौकिक संस्कृत दो भागों में विभाजित हो जाती है।

वैदिक भाषा–इसमें निम्नाङ्कित वाङ्मय (साहित्य) विरचित हैं—

संहितायें–1. ऋक् संहिता (ऋग्वेद)
2. यजुः संहिता (यजुर्वेद)
3. साम संहिता (सामवेद)
4. अथर्व संहिता (अर्थवेद)

उक्त चारों को 'मंत्रभाग' भी कहा जाता है। उक्त चारों के अतिरिक्त निम्नाङ्कित वाङ्मय भी वैदिक भाषा में विरचित हैं —

1. ब्राह्मण
2. आरण्यक
3. उपनिषद्

लौकिक संस्कृत–इसमें वर्णित साहित्य विशाल है —

1. रामायण तथा महाभारत
2. समस्त पुराण, उपपुराण
3. षड्दर्शन, स्मृतियाँ, काव्यशास्त्र
4. समस्त काव्यविधायें—महाकाव्य, गीतिकाव्य (खण्डकाव्य), गद्यकाव्य, कथा-साहित्य, नाट्च-साहित्य, चम्पूकाव्य आदि।

आज भी लौकिक संस्कृत में अनेक रचनायें हो रही हैं।

ध्वन्यात्मक विशेषतायें–वैदिक भाषा में स्वर और व्यञ्जन से सम्बन्धित कुछ ऐसी विशेषतायें हैं, जो लौकिक संस्कृत में नहीं हैं। यहाँ स्वरगत विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुये लौकिक संस्कृत से अन्तर को भी स्पष्ट किया जायगा।

वैदिक भाषा में स्वरों का महत्त्व–वैदिक भाषा में स्वरों का उच्चारण सङ्गीतात्मक होता है। स्वर के उच्चारण में स्वराघात पर ध्यान केन्द्रित करना पड़ता है, क्योंकि उससे (स्वराघात से) शब्दों के अर्थों का ज्ञान होता है। वस्तुतः 'स्वर' वैदिक भाषा की प्रमुख विशेषता है। वैदिक मन्त्रों के ज्ञान के लिये स्वरों का ज्ञान नितान्त वाञ्छनीय है।

तैत्तिरीय उपनिषद् के द्वितीय अनुवाक में कहा गया है—'वर्णः स्वरः मात्रा बल इत्येत जिज्ञासितव्यम्' अर्थात् वेदों के अर्थों के समझने के लिये वर्ण, स्वर, मात्रा, बल— इन सबको जानना चाहिये। पाणिनीय शिक्षा एवं अष्टाध्यायी में स्वरनियमों का विस्तृत व्याख्यान है। स्वरज्ञान के विना कहीं-कहीं अनर्थ भी हो जाता है। जैसे—'इन्द्रशत्रुः' शब्द के उच्चारण में स्वरदोष के कारण त्वष्टा का विनाश हो गया था। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने महाभाष्य के पस्पशाह्निक में व्याकरण से अशुद्ध 'स्वर' अथवा 'वर्ण' से अशुद्ध प्रयोग होने पर त्वष्टा (यज्ञकर्ता) के विनष्ट होने की चर्चा की है—

'दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा................यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्'।

—पस्पशाह्निक।

वृत्रासुर ने 'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' इस मन्त्र से इन्द्र को मारने के लिये 'अभिसार' किया था। इस मन्त्र का दो प्रकार से विग्रह होता है। एक तत्पुरुष समाससम्बन्धी और एक बहुव्रीहि समाससम्बन्धी। वृत्रासुर के लिये तत्पुरुष समास से जनित अर्थ अभीष्ट था। षष्ठी तत्पुरुष का विग्रह इस प्रकार होता है-इन्द्रस्य शत्रुः (मारने वाला) वर्धस्व अर्थात् इन्द्र को मारने वाला बढ़े। तत्पुरुष समास में मन्त्र को अन्तोदात्त स्वर में बोलना चाहिए। परन्तु प्रमादवश मन्त्र आद्युदात्त स्वर में बोल दिया गया। आद्युदात्त स्वर बहुव्रीहि समास में होता है। फलस्वरूप मन्त्र का अर्थ हो गया—इन्द्रः शत्रुः यस्य, वर्धस्व अर्थात् इन्द्र है मारने वाला जिसका, वह (इन्द्र) बढ़े। इस स्वर के गलत उच्चरित होने से बड़ा अनर्थ हो गया।

इस उद्धरण को प्रदर्शित करने का अभिप्राय यही है कि वैदिक भाषा में स्वरों का ज्ञान आवश्यक ही नहीं; अनिवार्य भी है।

दोनों भाषाओं में स्वरगत अन्तर–1. स्वर के ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत तीन भेद होते हैं। लौकिक संस्कृत में प्रायः ह्रस्व और दीर्घ स्वर ही व्यवहृत होते हैं, परन्तु वैदिक (संस्कृत) में स्वर के तीनों प्रकारों—ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत का प्रयोग होता है।

2. माहेश्वर सूत्र में 'अ', 'इ', 'उ', 'ऋ' तथा 'ऌ'—ये पाँच मूल स्वर माने गये हैं। परन्तु 'ऌ' का प्रयोग लौकिक संस्कृत में एक प्रकार से नहीं के बराबर है; जबकि वैदिक संस्कृत में 'ऌ' का प्रयोग प्रचुर मात्रा में पाया जाता है।

3. स्वरसम्बन्धी विशेषता–'स्वर' वैदिक भाषा की प्रमुख विशेषता है। वैदिक मन्त्रों के सम्यक् ज्ञान के लिये स्वरों का ज्ञान नितान्त वाञ्छनीय है। वैदिक भाषा में चार स्वर हैं—1. उदात्त, 2. अनुदात्त, 3. स्वरित, 4. प्रचय। 'निघात' को लेकर पाँच स्वर भी माने जाते हैं।

1. उदात्त स्वर का कोई चिह्न नहीं होता।

2. अनुदात्त स्वर के नीचे पड़ी रेखा (—) लगाते हैं।

3. स्वरित के ऊपर खड़ी रेखा (।) लगाते हैं।

4. प्रचय का भी कोई चिह्न नहीं होता।

विशेष–कुछ विदेशी विद्वान् स्वराङ्कन इस प्रकार लगाते हैं—

1. उदात्त—ऊपर—(।) चिह्न।

2. अनुदात्त का कोई चिह्न नहीं।

3. स्वरित—नीचे—(-) रेखा।

4.वैदिक भाषा में उदात्त, अनुदात्त, स्वरित इत्यादि स्वरों का यह हाल है कि इनके

ज्ञान के विना कोई वैदिक मन्त्रों के अर्थों को समझ ही नहीं सकता। मन्त्रों के संहिता-पाठ को जो पदपाठ में बदला जाता है, उसमें इस बात का ध्यान रखा जाता है कि संहिता-पाठ सन्धियुक्त होता है, परन्तु पदपाठ सन्धिरहित होता है । दोनों में केवल यही भेद नहीं है; बल्कि संहिता-पाठ में सन्धियों के होने पर यत्र-तत्र दूसरे स्वर (उदात्त आदि) होते हैं और सन्धि का अभाव होने पर स्वर में भी अन्तर आ जाता है।

5. वेदों में उदात्त, अनुदात्त अथवा स्वरित–इन तीनों स्वरों का निश्चय होता है। उन (स्वरों) का उच्चारण उनके अर्थों का निर्धारण करता है। उदाहरण—'मा' इस अव्यय शब्द के दो अर्थ होते हैं—1. मुझको, 2. निषेध (करना)। 'मा' यदि अनुदात्त है तो उसका सर्वनामवाची 'मुझको' यह अर्थ होगा। यदि वह (मा) उदात्त है तो उसका अर्थ निषेधात्मक होगा।

6. इसी प्रकार 'क्षय' शब्द के दो अर्थ होते हैं—1. घर 2. मृत। 'क्षयं गतः देवदत्तः' इस वाक्य में 'क्षय' शब्द को आद्युदात्त मानने पर उसका (क्षय का) अर्थ घर होगा और अन्तोदात्त मानने पर उसका अर्थ 'मृत' होगा।

6. व्यञ्जनगत अन्तर–यदि वैदिक भाषा का सूक्ष्म अध्ययन किया जाय तो उसमें व्यञ्जनसम्बन्धी कुछ ऐसी विशेषतायें दृष्टिगोचर होंगी, जो लौकिक संस्कृत में नहीं पायी जातीं। एतत्सम्बन्धी कुछ उदाहरण निम्नाङ्कित हैं—

उदाहरण–संस्कृत का सलिल वैदिक भाषा में 'सरिर' हो जाता है।

संस्कृत भाषा के 'सलिल्' शब्द में 'ल' वर्ण है, पर वैदिक भाषा में 'ल्' के स्थान पर प्रायः 'र्' का व्यवहार मिलता है।

1. लौकिक संस्कृत में 'ळ्ह्' (ल् ह्) जैसी ध्वनियाँ उपलब्ध नहीं होतीं, पर वैदिक भाषा में 'ळ्' एवं 'ल् ह्' दोनों अतिरिक्त ध्वनियाँ मिलती हैं; जिनका प्रयोग 'ड' और 'ढ' के स्थान पर किया गया प्रतीत होता है; जैसे—'ईळा' एवं ईळ्हा'।

2. लौकिक संस्कृत में 'स्वर्ण' शब्द का उच्चारण वर्तनी के अनुरूप ही किया जाता है अर्थात् स्वर्ण शब्द विकृत नहीं होता, वह स्वर्ण ही उच्चरित रहता है; परन्तु वैदिक भाषा में 'स्वर्ण' का उच्चारण 'सुवर्ण' जैसा ही किया जाता है। इसे 'स्वरवक्ति' कहते हैं।

3. वैदिक भाषा में अनेक बार व्यञ्जनों से पूर्व उसी व्यञ्जन को अनुनासिक बनाकर युगल-रूप में उच्चारण किया जाता है। ऐसे व्यञ्जन को 'यम' कहा जाता है।

उदाहरण–1. असिक्नी, 2. चख्नतुः, 3. जग्मिवान्, 4. जघ्नतुः। इन चारो शब्दों में क्रमशः 'क्', 'ख', 'ग' और 'घ्' से पहले अनुनासिक—कँ्, खँ्, गँ् तथा 'घँ्' का उच्चारण होता है।

4. संयुक्त व्यञ्जनों का उच्चारण प्रायः द्वित्व रूप में होता है, जिसको 'क्रम' कहा जाता है। उदाहरण—

1. 'अस्तौत्' —'अस्त्तौत्

2. ह्वयामि—'ह्ह्वयामि'

3. स्यन्दन्ताम् —'स्स्यन्दन्ताम्।

सन्धिगत विशेषता (विभिन्नता)–दो वर्णों (स्वरों अथवा व्यञ्जनों) की अतिशय समीपता (मेल) को सन्धि कहते हैं। जब दो वर्णों का मेल (सन्धि) होता है तब उनमें एक नया रूप आ जाता है। लौकिक संस्कृत में सन्धि-नियमों का कड़ाई से पालन होता है, परन्तु वैदिक भाषा (संस्कृत) में अनेक अपवाद मिलते हैं। कहीं सन्धि होती है और कहीं नहीं भी होती। नीचे वैदिक एवं लौकिक संस्कृत की सन्धिगत विभिन्नताओं पर प्रकाश डाला जा रहा है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि दोनों भाषाओं में सन्धिगत नियमों की समानता है, फिर भी भिन्नता दृष्टिगोचर होती है—

1. ऋग्वेद में अनेक स्थल ऐसे हैं, जहाँ लौकिक संस्कृत की अपेक्षा सन्धि-नियमों के अपवाद देखने में आते हैं।

'अच्' सन्धि में विभिन्नता–'एङः पदान्तादति' सूत्र के अनुसार पदान्त में 'ए' अथवा 'ओ' स्वर के आगे वाले 'अ' स्वर का पूर्वरूप होता है। जैसे—'हरे+अव' में 'अ' को पूर्वरूप होकर 'हरेऽव' होता है।

इसी प्रकार 'विष्णो+अव' में 'अ' का पूर्वरूप होकर 'विष्णोऽव' यह रूप बनता है।

परन्तु वेद में उक्त नियम कहीं लागू होता है और कहीं नहीं भी लागू होता। उदाहरण—'सोऽयमागात्' (ऋ० 10/53/1) यहाँ पर 'अयम्' के 'अ' को पूर्वरूप हुआ है। इसी प्रकार 'तेऽवदन्'। (ऋ० 10/109/1) 'में अवदन् के 'अ' को पूर्वरूप हुआ है।

परन्तु 'शिक्षन्तो अवतम्' (ऋ० 6/14/3) इस स्थल में 'अ' को पूर्वरूप नहीं हुआ।

सामान्यतः विसर्ग का लोप होने पर फिर सन्धि नहीं होती; परन्तु वैदिक भाषा में इसका अपवाद है।

2. कुह सेति (ऋ० 2/12/5) इस स्थल में 'सः+इति' में विसर्ग का लोप होने पर सन्धि नहीं होनी चाहिये, पर गुणसन्धि होकर स+इति='सेति' हुआ है।

3. 'भूम्याददे' (ऋ० 10/61/10) यहाँ 'भूमिः+आददे में विसर्ग का लोप होने पर सन्धि नहीं होनी चाहिये, पर 'यण्' सन्धि हुयी है।

अन्य—1. दीर्घ स्वर के बाद 'न्' हो और उसके आगे स्वर हो तो 'न्' को अनुस्वार

हो जाता है—महान् + इन्द्रः = महाँ इन्द्रः।

2. 'जिगीवाँ लक्षमादर्यः' (ऋ0 2/12/4) में वैदिक सन्धिविशेष के कारण 'जिगीवान्' का 'न्' अनुनासिक हो गया है।

3. 'परिदीया रथेन' (ऋ0 5/83/7) इस स्थल में 'दीय्' दी+लोट् प्र0पु0, एकवचन 'य' के अ को छान्दस दीर्घ हुआ है।

4. कहीं-कहीं नियमानुसार सन्धि है—'सुगेभी रक्षा' (ऋ0 1/35/11) में 'ढ्रलोपे' सूत्र से 'भि' के 'इकार' को दीर्घ हुआ है।

5. ऐसे भी स्थल मिलते हैं, जहाँ सन्धि होनी चाहिये। जैसे—तितउ। यहाँ पर 'त' के 'अ' तथा उसके 'उ' में गुणसन्धि होनी चाहिये, लेकिन नहीं हुयी है।

6. 'गो ओपशा' में सन्धि होनी चाहिये, पर नहीं हुयी है।

शब्द-रूपगत विभिन्नता–वैदिक भाषा के शब्दरूप में लौकिक संस्कृत की अपेक्षा कुछ विभिन्नतायें दृष्टिगोचर होती हैं। कुछ अन्तरों को निम्नाङ्कित रूप से स्पष्ट किया जा रहा है—

1. अकारान्त पुँल्लिङ्ग शब्दों के प्रथमा एवं द्वितीया विभक्ति के द्विवचन में लौकिक संस्कृत में 'औ' का प्रयोग होता है। जैसे—'देवौ', 'जनौ', 'छात्रौ' आदि।

परन्तु वैदिक संस्कृत में आकारान्त और औकारान्त दोनों रूप मिलते हैं—

देवा-देवौ, नासत्या-नासत्यौ, मित्रावरुणा-मित्रावरुणौ, उभा-उभौ आदि।

पुँलिङ्ग अकारान्त शब्द के प्रथमा द्विवचन के अन्तर का उदाहरण—

(क) 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया'

इस मन्त्रांश में सभी शब्दों में 'औ' के स्थान पर 'आ' लगा है।

(ख) 'अहं मित्रावरुणोभा विभर्म्यहमिन्द्राग्नीं अहमश्विनोभा' ऋ0 10/125/1

इस उदाहरण में लौकिक संस्कृत के 'मित्रावरुणौ' के स्थान पर 'मित्रावरुणा' आकारान्त का प्रयोग है। इसी प्रकार 'उभौ' के स्थान पर आकारान्त 'उभा' का प्रयोग वैदिक है।

2. लौकिक संस्कृत में आकारान्त शब्दों के प्रथमा बहुवचन में जस् (अस्) प्रत्यय लगाकर ये रूप बनते हैं—

देवाः, जनाः, ब्राह्मणाः, मर्त्याः, पूर्व्याः, रथाः, अक्षाः, प्रियाः, सुवीराः आदि।

परन्तु वैदिक संस्कृत में जस् (अस्) प्रत्यय के साथ आसस् प्रत्यय भी होता है।

फलस्वरूप दो-दो रूप बनते हैं—देवाः-देवासः। जनाः-जनासः। ब्राह्मणाः-ब्राह्मणासः, पूर्व्याः-पूर्व्यासः। रथाः-रथासः। अक्षाः-अक्षासः। प्रियाः-प्रियासः। सुवीराः-सुवीरासः। मर्त्याः-मर्त्यासः आदि।

वैदिक उदाहरण–'स जनास इन्द्र' यहाँ प्रथमा बहुवचन में जनाः के स्थान पर जनासः प्रयोग है।

अन्य उदाहरण—ऋग्वेद-1/35/6 'अमृताधितस्थुः'-अमृत+अधितस्थुः। कृष्णा रजांसि—ऋ0 1/35/4 विश्वा दुरित—वही-2।

3. लौकिक संस्कृत में अकारान्त नपुंसक लिङ्ग में प्रथमा और द्वितीया के बहुवचन में 'आनि' लगाकर रूप बनते हैं—

जैसे—विश्वानि, अद्भुतानि, सर्वाणि, वनानि, भुवनानि आदि।

परन्तु वैदिक संस्कृत में 'आ' और 'आनि' लगाकर दो-दो रूप बनते हैं—

विश्वा-विश्वानि। वना-वनानि। पूर्णा-पूर्णानि। अक्षीयमाणा-अक्षीयमाणानि। भुवना-भुवनानि आदि।

उदाहरण–'इमा विश्वा च्यवना कृणानि' ऋग्वेद 2/12/14 इस मन्त्रांश में 'इमा, विश्वा, च्यवनाः—ये तीनों 'इमानि', 'विश्वानि' 'च्यवनानि' के क्रमशः वैदिक रूप हैं।

4. लौकिक संस्कृत में अकारान्त पुंल्लिङ्ग शब्दों के तृतीया बहुवचन में भिस् (ऐस्) प्रत्यय लगाकर निम्नाङ्कित रूप बनते हैं—

देवैः, मनुष्यैः, ब्राह्मणैः, पूर्वैः आदि।

परन्तु वैदिक संस्कृत में 'भिस्' के स्थान 'ऐस्' आदेश नहीं भी होता है; जिसके परिणामस्वरूप 'एेः' और 'एभिः' लगाकर दो-दो रूप बन जाते हैं—

देवैः-देवेभिः, पूर्वैः-पूर्वेभिः, तैः-तेभिः, सुगैः-सुगेभिः आदि।

उदाहरण—अहं रुद्रेभिः (वाक्सूक्त म0 1)। देवेभिरुतमानुषेभिः (वही, म0 5)।

इसी प्रकार लौकिक संस्कृत में अकारान्त तृतीया एकवचन में ('टा' के स्थान पर) 'इन' जोड़कर ये रूप बनते हैं—

देवेन, वनेन, मनुष्येण, श्यामेन, वृक्षेण आदि।

परन्तु वैदिक संस्कृत में 'इन' और 'इना' जोड़कर दो-दो रूप बनते हैं—

देवेन-देवेना इत्यादि।

5. लौकिक संस्कृत में इकारान्त पुंल्लिङ्ग शब्दों के सप्तमी एकवचन में (ङि) 'औ'

लगाकर निम्नाङ्कित रूप बनते हैं—

अग्नौ, हरौ, मुनौ, विधौ आदि।

परन्तु वैदिक संस्कृत में सप्तमी एकवचन में 'औ' और 'आ' दोनों जोड़कर दो-दो रूप बन जाते हैं—

अग्नौ-अग्ना।

6. इसी प्रकार इकारान्त स्त्रीलिङ्ग के शब्दों के भी दो रूप बनते हैं—

'मति' शब्द के लौकिक संस्कृत में 'मत्याम्' 'मतौ' दो रूप बनते हैं, जबकि वैदिक संस्कृत में मतौ-मता—ये दो रूप बनते हैं।

7. लौकिक संस्कृत में आकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्द; जैसे—गुहा, राका, रमा के सप्तमी एकवचन में 'गुहायाम्', 'राकायाम्', 'रमायाम्' आदि रूप बनते हैं; परन्तु वैदिक संस्कृत में सप्तमी विभक्ति का लोप हो जाता है। उदाहरण—

'गुहाकः' ऋ० 2/12/4

यहाँ 'गुहायाम्' न होकर, विभक्ति का लोप होने से 'गुहा+अकः' 'गुहाकः' शब्द बना है, जिसका अर्थ है–गुफा में।

8. लौकिक संस्कृत में नकारान्त (हलन्त) शब्द के सप्तमी एक वचन में दो-दो रूप बनते हैं। जैसे–व्योम्नि-व्योमनि।

परन्तु वैदिक संस्कृत में इकार का लोप होकर केवल एक रूप बनता है—परमे व्योमन्।

9. इसी प्रकार 'मूर्धन्' का सप्तमी एकवचन में लौकिक संस्कृत में 'मूर्ध्नि' होता है, पर वैदिक संस्कृत में 'मूर्धन्' रूप बनता है।

अन्य विभिन्नतायें–शब्दरूपों में अनेक अन्य विभिन्नतायें भी पायी जाती हैं; जैसे—

(क) धीरा त्वस्य—ऋ० 7/86/1

यहाँ धीर (नपुंसक लिङ्ग अकारान्त) शब्द का बहुवचन में 'धीराणि' न होकर 'धीरा' बना है।

(ख) 'नृम्णस्य महना स जनास इन्द्रः'—वही-2/12/1

'महना' यह वैदिक संस्कृत का तृतीया एकवचन का रूप है। लौकिक संस्कृत में 'महिम्ना' होता है।

(ग) 'विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः'—वही-1/154/5

यहाँ 'मधु' शब्द का षष्ठी एकवचन में लौकिक संस्कृत में 'मधवः' होता है, वैदिक संस्कृत में 'मध्वः' रूप है।

(घ) लौकिक संस्कृत में 'इत्थम्' होता है, परन्तु वैदिक संस्कृत में 'इत्था' का प्रयोग होता है। उदाहरण—'स हि बन्धुरित्था'—ऋग्वेद 1/154/5।

(ङ) कहीं-कहीं 'धीरा' इस विशेषण पद की भाँति अन्यत्र भी दोनों में अन्तर दिखायी देता है। उदाहरण—

'आपो ह यद् बृहतीर्विश्वमायन्'—वही 10/121/7

इस मन्त्रांश में 'आपः' प्रथमा बहुवचन विशेष्य पद है और 'बृहतीः' पद उसका विशेषण है। लौकिक संस्कृत में प्रथमा बहुवचन में 'बृहत्यः' रूप होता है, परन्तु वैदिक भाषा में उसके स्थान पर 'बृहतीः' शब्द का प्रयोग हुआ है।

(च) 'हिरण्य' शब्द से 'मयट्' प्रत्यय लगाकर लौकिक संस्कृत में 'हिरण्यमय' रूप बनता है; पर वैदिक संस्कृत में 'मकार' का लोप होकर 'हिरण्यय' रूप बनता है। उदाहरण—'हिरण्ययेन सविना'—ऋ0 1/35/2

(छ) क्रमशः ईकारान्त और ऊकारान्त शब्दों के प्रथमा और द्वितीया के द्विवचन में नद्यौ, वध्वौ रूपों के साथ नदी और वधू रूप भी बनते है।

प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में नद्यः वध्वः के साथ ही नदीः और वधूः रूपों का भी प्रयोग होता है।

(ज) रूपपरिवर्तन के विना भी विभक्तियाँ बन जाती हैं। किसी भी विभक्ति के किसी भी वचन के लिये प्रथमा विभक्ति के एकवचन का प्रयोग कर दिया जाता है, अथवा मूल शब्द का ही प्रयोग कर दिया जाता है।

सर्वनामों के रूपों में विभिन्नता–1. वैदिक भाषा में सर्वनाम शब्दों के रूप लौकिक संस्कृत की अपेक्षा अधिक हैं; जैसे—

युष्मद् प्रथमा—त्वम्, यूयम्।

तृतीया एकवचन—त्वा, त्वया, द्विवचन—युवाभ्याम्।

पञ्चमी—त्वद्, युवद्, युष्मद् ।

षष्ठी-द्विवचन—युवोः।

सप्तमी-एकवचन—त्वे, त्वयि; बहुवचन—युष्मे।

2. अस्मद् प्रथमा—अहम्, वाम्, वयम् ।

द्वितीया–माम्, आवाम्-अस्मान् ।

चतुर्थी एकवचन—मह्यम्, मह्य।

सप्तमी बहुवचन—अस्मासु, अस्मे।

3. तद् —प्रथमा द्वितीया विभक्ति द्विवचन–ता, तौ।

तृतीया बहुवचन—तेभिः।

सप्तमी एकवचन—तस्मिन्, सस्मिन् ।

4. इदम्—तृतीया एकवचन—अया, अनया।

5. अदस्—तृतीया एकवचन—अमुया।

6. एनद्—षष्ठी द्विवचन—एनोः, एनयो।

7. किम्—प्रथमा एकवचन नपुंसकलिङ्ग—किम्, कद् ।

तृतीया बहुवचन—केभिः।

8. स्व—सप्तमी एकवचन—स्वे, स्वस्मिन् ।

धातुरूपगत विभिन्नता–धातुरूपों की दृष्टि से लौकिक संस्कृत की अपेक्षा वैदिक संस्कृत अधिक सम्पन्न है। लगता है कि ऋग्वेदकाल में बोली जाने वाली सभी विभाषाओं और बोलियों को भी वैदिक भाषा में सम्मिलित कर लिया गया था, क्योंकि एक ही प्रकार की धातुओं के अनेक रूप और अर्थ दिखायी देते हैं। आगे चलकर निर्धारण होने के कारण दिखायी देने वाली विविधता कम हो गयी। तत्कालीन बोलियों और विभाषाओं से सम्पृक्त होने के कारण धातुओं के अनेक रूप तथा अर्थ दृष्टिगोचर होते हैं। धातुओं के साथ जुड़ने वाले प्रत्ययों के रूपों में भी विभिन्नता दिखायी देती है। परस्मैपद, आत्मनेपद एवं लकारों के प्रयोग में भी व्यतिक्रम दृष्टिगोचर होता है। एतत्सम्बन्धी कुछ उदाहरण निम्नाङ्कित हैं—

1. वैदिक भाषा (संस्कृत) में रूपों की विविधता दर्शनीय है। अकेले 'कृ' धातु के विविध रूप दृष्टिगोचर होते हैं—

(क) करु, कुरु—करोति, कुरुते, अकरोत्, अकुरुतः आदि।

(ख) 'कृ' का 'कर' रूप भी बनता है—

अकरवम्, अक्रि, अकार्षम्, करिष्यति, कृधि, कर, करम्, करसि, करसे, करिष्यः आदि।

(ग) 'कृ' को चक्र में परिणत किया जाता है—

चकार, चक्रे, चकरन्, अचक्रत्, चक्रिया, चकाण आदि।

(घ) 'कृ' को 'कृणु' के रूप में लिया जाता है—

कृणोति, कृणुते, अकृणोत्, कृणु, कृणुष्व, कृण्वीत, कृणवत्, कृण्वत्, कृण्वानः।

'कृ' के इतने रूप लौकिक संस्कृत में नहीं मिलते।

2. लौकिक संस्कृत में धातुओं के परस्मैपद और आत्मनेपद के लिये विशेष नियम हैं, पर वैदिक संस्कृत में उसके लिये नियम में शिथिलता है; जैसे—लौकिक संस्कृत में 'गम्' धातु परस्मैपदी है, पर वेद में उसके दोनों रूप मिलते हैं। 'लट्' में 'गच्छति-गच्छते' ये दोनों रूप मिलते हैं।

3. लौकिक भाषा के भूतकाल-सम्बन्धी लङ्, लुङ् तथा लिट् लकार का प्रयोग किसी भी लकार के लिये हो सकता है।

उदाहरण—'अग्निमद्य होतारमवृणीताय यजमानः' में लङ् लकार के 'अवृणीत' का प्रयोग लट् लकार के अर्थ में हुआ है।

4. वर्तमान के अर्थ में लिट् का प्रयोग–

स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्—ऋग्वे० 10/121/1 प्रजापति सूक्त।

यहाँ 'लिट्' लकार के 'दाधार' पद का प्रयोग वर्तमान 'लट्' लकार के अर्थ में हुआ है।

लकार–संस्कृत में निम्नाङ्कित दस लकार होते हैं—

1. लट् 2. लिट् 3. लुट् 4. लृट् 5. लेट् 6. लोट् 7. लङ् 8. लिङ् 9. लुङ् 10. लृङ् ।

यहाँ यह ध्येय है कि 'लिङ्' लकार दो भेदों में विभक्त है—विधिलिङ् और आशीर्लिङ्। इस प्रकार लकारों की संख्या 11 हो जाती है। 'लेट्' लकार का प्रयोग केवल वैदिक भाषा में होता है। इस प्रकार वैदिक भाषा में लकारों की संख्या 11 हो जाती है और (लेट् लकार को छोड़कर) लौकिक संस्कृत में लकारों की संख्या 10 रह जाती है। सम्प्रति केवल वैदिक भाषा में प्रयुक्त 'लेट्' लकार के विषय में कुछ कहना अभीष्ट है।

'लेट्' लकार–वैदिक संस्कृत में 'लेट्' लकार का प्रयोग बहुलता से मिलता है। कुछ उदाहरण निम्नाङ्कित हैं—

'सविता धर्मं साविषत्' । यहाँ 'साविषत्' 'लेट्' लकार का रूप है। इसी प्रकार 'लेट्' के निम्नाङ्कित प्रयोग भी वेदों में मिलते हैं—

भवाति, गच्छाति, तारिषत्, मान्दिषत्, यजाति आदि।

यद्यपि 'लेट्' लकार का प्रयोग प्रायः भूतकाल में हुआ है, परन्तु अन्य अर्थों (कालों



आदि) में भी उसके प्रयोग का विधान है। पाणिनि के विधानानुसार 'लेट्' का प्रयोग 'लिङ्' के अर्थ में हो सकता है—

'लिङर्थे लेट्'—अष्टाध्यायी 3/4/7।

'लेट्' लकार का अन्य उदाहरण निम्नाङ्कित है—

1. 'य' 'उ' 'तक्चिकेतत्'—ऋग्वेद—1/35/6

यहाँ 'चिकेतत्' (कित्+लेट्) यह वैदिक-लेट् लकार के प्र0पु0 एकवचन का रूप है। यहाँ इसका प्रयोग वर्तमान काल में हुआ है।

2. 'न्वन्तर्वरुणे भुवानि'—ऋग्वेद—7/86/2

यहाँ 'भुवानि' यह पद 'भू' धातु के 'लेट्' लकार उ0प्र0 एकवचन का रूप है।

अन्य विशेषतायें–

(क) 'लेट्' लकार के उत्तम पुरुष के बहुवचन के अन्त में 'मः' और 'मसि' दोनों आते हैं—

इमः–इमसि, गृणीमः—गृणीमसि।

(ख) वैदिक भाषा में 'शप्' के आगम और लोप के सम्बन्ध में कोई विशेष नियम नहीं है। परिणामस्वरूप निम्नाङ्कित उदाहरण मिलते हैं—

'हन्' धातु—हान्ते, हनति। 'शी' धातु—शेते, शयते।

विशेष–1. वैदिक भाषा में 'लिट्' लकार के अनेक रूप दिखाई देते हैं। 'लिट्' के स्थान पर 'कानच्' लगाकर भी रूप बनते हैं। जैसे—

'अग्निं चिक्यानः'

2. इसी प्रकार लिट् के स्थान पर 'क्वासु' प्रत्यय लगाकर भी रूप बनते हैं। जैसे—

पपिवान् - जग्मिवान् ।

उपसर्ग-प्रयोग

1. लौकिक संस्कृत में उपसर्ग का प्रयोग धातु से (धातु से निष्पन्न रूप से) ठीक पहले होता है। धातु और उपसर्ग के मध्य सन्धि भी नित्य होती है। कहा भी गया है —

संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः।

परन्तु वैदिक भाषा में धातु के पूर्व उपसर्ग के रहने का कोई नियम नहीं है। वैदिक भाषा में 'उपसर्ग' कभी-कभी क्रिया से दूर—आगे या पीछे रहता है, जैसे—

(क) 'प्र तद्विष्णुः स्तवते वीर्येण' इस स्थल में 'प्र' उपसर्ग 'स्तवते' इस क्रिया से

बहुत पहले प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार—

(ख) 'प्र विष्णवे शूषमेतु' इस मन्त्रांश में 'प्र' उपसर्ग 'एतु' इस क्रिया से बहुत पहले प्रयुक्त हुआ है।

2. वैदिक भाषा में उपसर्गों का प्रयोग स्वतन्त्र रूप से भी हुआ है;

उदाहरण—अभि त्वा पूर्वपीतये सृजामि सोम्यं मधु—ऋग्वेद 1/19/9।

यहाँ 'अभि' उपसर्ग का प्रयोग 'सृजामि' इस क्रियापद के साथ न होकर स्वतन्त्र रूप से हुआ है।

इसी प्रकार उपसर्गों की स्थिति अन्यत्र भी मिलती है।

कृदन्तगत विशेषतायें–लौकिक संस्कृत में धातु से 'क्त्वा' प्रत्यय लगाकर निष्पन्न शब्द का पूर्वकालिक क्रिया के रूप में (उसका) प्रयोग होता है; जैसे—

'रमेशः स्नात्वा भुङ्क्ते' इस वाक्य में 'स्ना' धातु से 'क्त्वा' प्रत्यय लगाकर 'स्नात्वा' पद बनता है। उसका प्रयोग यहाँ पूर्वकालिक क्रिया के रूप में हुआ है।

परन्तु वेद में 'क्त्वा' के स्थान पर 'त्वी' या 'त्वाय' प्रत्यय भी लगते हैं।

उदाहरण—'भूत्वी', 'कृत्वी', 'दत्त्वाय', 'गत्वाय' आदि

लौकिक संस्कृत में क्रिया के पूर्व उपसर्ग के रहने पर क्त्वा को 'ल्यप्' हो जाता है। जैसे—'ग्रह' धातु से 'क्त्वा' प्रत्यय जुड़ने पर 'गृहीत्वा' शब्द बनता है; परन्तु 'परि' उपसर्ग के पहले रहने पर 'क्त्वा' को 'ल्यप्' होकर 'परिगृह्य' शब्द बनता है।

परन्तु वैदिक संस्कृत में क्रिया के पूर्व उपसर्ग के होने पर 'क्त्वा' के स्थान पर ल्यप् नहीं भी होता है—

उदाहरण—परिधापयित्वा आदि।

यहाँ 'परि' उपसर्ग के रहने पर भी 'क्त्वा' को 'ल्यप्' नहीं हुआ है; अन्यथा 'परिधाप्य' रूप बनता। 'तव्य' (तव्य-तव्यत्) के स्थान पर वैदिक संस्कृत में निम्नाङ्कित प्रत्यय भी होते हैं—

तवे; तवै, ए, एत्य, त्व आदि।

तुमुन् प्रत्यय के अर्थ में अनेक प्रत्यय–

धातुओं से एक ही प्रत्यय के अर्थ में वेद में अनेक प्रत्यय होते हैं। जैसे एक 'तुमुन्' प्रत्यय के अर्थ में निम्नाङ्कित सोलह प्रत्यय होते हैं—

(1) तुमुन् (2) से (3) सेन (4) असे (5) असेन् (6) कसे (7) कसेन् (8) अध्यै

(9) अध्यैन् (10) कध्यै (11) कध्यैन् (12) शध्यै (13) शध्यैन् (14) तवै (15) तवैङ् (16) तवेन् ।

1. 'तुमुन्' अर्थ वाले प्रत्ययों के कुछ उदाहरण निम्नाङ्कित हैं—

1. 'से' , सेन प्रत्यय - एजे = आने के लिये।

2. 'जीव' धातु से असे, असेन् - जीवसे = जीने के लिये।

3. 'श्रिय्' धातु से कसे, कसेन् - श्रियसे = आश्रय पाने के लिये।

4. 'चर्' धातु से अध्यै, अध्यैन् - उपाचरध्यै = आचरण करने के लिये।

5. 'ह्वे' धातु से कध्यै, कध्यैन् - आहुअध्यै = आह्वान करने के लिये।

6. 'पा' (पिब्) धातु से श्रध्यै, श्रध्यैन् - पिबध्यै = पीने के लिये।

7. 'पा धातु से तवै प्रत्यय - पातवै = पिलाने के लिये।

8. 'सू' धातु से तवैङ् प्रत्यय - सूतवै = उत्पन्न करने के लिये।

9. 'गम्' धातु से तवेन् प्रत्यय -गन्तवे = जाने के लिये।

कुछ उदाहरण निम्नाङ्कित हैं—

(क) 'हन्' धातु से तवेन् प्रत्यय 'हन्तवे' मारने के लिये-'शरवे हन्तवाउ'—ऋ0 10/125/3

(ख) 'ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै'—ऋग्वेद 1/154/6

यहाँ 'गमध्यै' में 'गम्' धातु से 'अध्यैन् प्रत्यय हुआ है (जाने के लिये)।

धातुरूपों में अन्य विभिन्नतायें–यहाँ यह ध्येय है कि वैदिक भाषा में लकारों के रूप भी लौकिक संस्कृत के रूप से भिन्न होते हैं। कुछ उदाहरण निम्नाङ्कित हैं—

(क) लौकिक संस्कृत में 'ईश' धातु से लट् प्र0पु0 एकवचन में निष्पन्न 'ईष्टे' के स्थान पर वैदिक भाषा में 'ईशे' रूप मिलता है।

(ख) 'श्रु' धातु से 'लोट्' म0पु0 एकवचन में लौकिक संस्कृत में 'शृणु' रूप बनता है; परन्तु वैदिक संस्कृत में 'श्रुधि' रूप होता है।

उदाहरण—'श्रुधि श्रुत श्रद्धि वं ते वदामि'—ऋ0 10/125/4

(ग) 'मद्' धातु से लट् लकार प्र0पु0 बहुवचन में लौकिक संस्कृत में 'मदयन्ति' या माद्यन्ति होता है; परन्तु वैदिक संस्कृत में 'मदन्ति' (ऋ0 1/154/4) प्रयोग हुआ है।

(घ) 'जन्' धातु से लौकिक संस्कृत में 'लिट्' प्र0पु0 एकवचन में 'जनयामास' रूप होता है, परन्तु वैदिक संस्कृत में 'जजान' (बृहतीर्जजान—ऋ0 10/121/9) का प्रयोग हुआ है।

(ङ) लौकिक संस्कृत में 'भी' धातु से लट् प्र0पु0बहुवचन में 'बिभ्यति' रूप बनता है; पर वैदिक संस्कृत में 'भयन्ते' (2/12/13) रूप प्रयुक्त हुआ है।

(च) प्र+ष्टुञ् (स्तु) से कर्मवाच्य में 'प्रस्तूयते' रूप बनता है, पर वैदिक संस्कृत में 'प्र तद्विष्णुः स्तवते'—ऋ0 1/154/2 में 'प्र स्तवते' बना है।

(छ) लौकिक संस्कृत में 'स्कम्भ' धातु से लङ् प्र0 पु0 एकवचन में 'अस्कम्भनात्' रूप होता है, पर वैदिक संस्कृत में 'अस्कभायत्' (ऋ0 1/154/1) रूप मिलता है।

अट्-आगम–कहीं-कहीं 'लुङ्' आदि लकारों में 'अट्' का आगम नहीं हुआ है—

'गर्भमाधा' (ऋ0 5/83/7) यहाँ पर 'धाः' में 'धा' धातु से लुङ् लकार म0पु0एकवचन में 'अट्' का आगम नहीं हुआ है।

वैदिक भाषा में प्रयोगों की एकरूपता को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि आज वैदिक भाषा का जो स्वरूप हमें उपलब्ध होता है, वह तत्कालीन अनेक बोलियों का मिला-जुला रूप है; जिनमें देशभिन्नता तथा कालभिन्नता दोनों का ही होना सम्भव है। सम्भवतः इस काल की जन-सामान्य की विविध बोलियों का ही, हिन्दी की खड़ी बोली के समान, एक परिनिष्ठित, साहित्यिक रूप वह वैदिक भाषा है, जो हमें आज उपलब्ध होती है।

●

पञ्चम अध्याय

ध्वनि-विज्ञान

ध्वनि-विज्ञान–भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में जहाँ भाषा में प्रयुक्त ध्वनियों का अध्ययन किया जाता है, उसे (उस प्रकरण को) 'ध्वनि-विज्ञान' कहा जाता है। भारत में 'ध्वनि-विज्ञान' (ध्वनि-विचार अथवा वर्ण-विचार) प्राचीनतम भारतीय वाङ्मय वैदिक साहित्य में भी मिलता है। वेद के छः अङ्गों में 'शिक्षा' नामक वेदाङ्ग में एतद्विषयक विचार दृष्टिगोचर होता है। भाषा विज्ञान में पद-विज्ञान, वाक्यविज्ञान तथा अर्थविज्ञान की भाँति ध्वनि-विज्ञान भी नितान्त महत्त्वपूर्ण है। वस्तुतः भाषा-विज्ञान के अन्य अङ्गों की अपेक्षा ध्वनि-विज्ञान कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि भाषा का भव्य भवन ध्वनियों की नींव पर खड़ा है। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से ध्वनि-विज्ञान के अन्तर्गत ध्वनि की परिभाषा, ध्वनि की उत्पत्ति-प्रक्रिया, ध्वनियन्त्र अथवा उच्चारणावयव यन्त्र का परिचय, भाषा-विशेष में प्रयुक्त ध्वनियों का परिचय तथा ध्वनियों का वर्गीकरण आदि विषय विचारणीय के रूप में गृहीत होते हैं। इसी के अन्तर्गत ध्वनि-विकास (परिवर्तन के कारण तथा उसकी परिवर्तन की दिशायें) एवं कुछ विशिष्ट ध्वनि-नियमों का अध्ययन किया जाता है।

ध्वनि-विज्ञान की उपयोगिता–1. ध्वनि-विज्ञान भाषा की विभिन्न ध्वनियों का सम्यक् ज्ञान कराता है तथा उनके (ध्वनियों के) सही उच्चारण की शिक्षा देता है। इसके द्वारा मनुष्य का उच्चारणसम्बन्धी ज्ञान सर्वांशतः परिपूर्ण होता है। विश्व-विख्यात वैयाकरण (भाषा-विद्) पतञ्जलि ने कहा है कि 'मात्र एक शब्द का सम्यक् ज्ञान और उसका सही प्रयोग भी मनुष्य की स्वर्गप्राप्ति का साधक बन जाता है'। "एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग् भवति"। (महाभाष्य प्रदीप-टीका आ0 1)

2. ध्वनि-विज्ञान प्रत्येक ध्वनि के सम्यक् उच्चारण स्थान और प्रयत्न को बताता है। 3. ध्वनि-विज्ञान विश्व की भाषाओं को सीखने में नितान्त उपयोगी है। 4. ध्वनि-विज्ञान के द्वारा वर्णों (ध्वनियों) का सूक्ष्म परिचय तथा उनका पारस्परिक भेद स्पष्ट हो जाता है। 5. ध्वनि-विज्ञान के द्वारा किसी भाषा को सीखने-सिखाने में बहुत सहायता मिलती है। 6. ध्वनि-विज्ञान प्रत्येक भाषा के शब्दों के शुद्ध उच्चारण तथा शुद्ध लेखन में सहायक होता है। 7. ध्वनि-विज्ञान विभिन्न भाषाओं के परस्पर सम्बन्ध को भी स्पष्ट करता है। जैसे—संस्कृत और अवेस्ता, संस्कृत तथा जर्मन आदि। 8. ध्वनि-विज्ञान ध्वनियों के परिवर्तन का बोध तो कराता ही साथ ही वह मनुष्य की उन्नति अथवा अवनति का भी इतिहास बताता है। 9. ध्वनि-विज्ञान का सम्बन्ध उच्चरित ध्वनियों से है, लिखित वर्णमाला से नहीं है। ध्वनि-विज्ञान में प्रयुक्त 'ध्वनि' शब्द की व्युत्पत्ति, अर्थ आदि के सम्यक्

ज्ञान को अपेक्षित मानकर उन पर (ध्वनि की व्युत्पत्ति आदि पर) विचार किया जा रहा है—

'ध्वनि' शब्द की व्युत्पत्ति एवं अर्थ–भ्वादिगणीय शब्दार्थक 'ध्वन' धातु से 'स्वनिकसि...' (उणादि 4।140) सूत्र से 'इ' प्रत्यय जोड़कर ध्वनि शब्द निष्पन्न होता है जिसका व्युत्पत्तित्यम्य अर्थ है—'शब्द'। अमरकोषकार ने ध्वनि के सत्रह नाम गिनाये हैं—1. शब्द 2. निनाद 3. निनद 4. ध्वनि 5. ध्वान 6. रव 7. स्वन 8. स्वान 9. निर्घोष 10. निर्दाद 11. नाद 12. निस्वान 13. निस्वन 14. आरव 15. आराव 16. संराव 17. विराव।—अमरकोश, प्रथम काड 6/22, 23।

अन्य कोष-ग्रन्थों में 'ध्वनि' के -1. शब्द, प्रतिध्वनि, कोलाहल या शोर, 2. लय, नाल स्वर 3. वाग्यन्त्र की ध्वनि 4. बादल की गड़गड़ाहट 5. केवल रिक्त ध्वनि 6. शब्द 7. उत्तम काव्य आदि अर्थ गिनाये गये हैं।

काव्यशास्त्र में काव्य के तीन भेदों में जो उत्तम काव्य होता है उसे ध्वनिकाव्य कहते हैं। इसप्रकार काव्यशास्त्र में 'ध्वनि' शब्द परिभाषिक हो गया है और उसका प्रयोग उत्तमकाव्य के लिये होता है। अभिनवगुप्त ने उसकी अनेक प्रकार से व्युत्पत्ति (व्याख्या) की है।

महाभाष्यकार पतञ्जति ने शब्द की परिभाषा करते हुये उन कण्ठादि ध्वनियों को 'शब्द' कहा है जिनसे पदार्थ का बोध होता है—'अथवा प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते महा0 प्र0अ0 प्र0 पाद परस्पशाह्निक। उन्होंने अन्त में यह निष्कर्ष निकाला है कि वाचक-ध्वनि 'शब्द' है—'तस्माद ध्वनिः शब्दः'। पतञ्जलि ने 'शब्द-विचार-प्रसङ्ग में भाषा (शब्द) के मानस एवं वाचिक दोनों रूपों को दृष्टिगत किया है। परन्तु यहाँ उन्होंने सार्थक वाचक ध्वनि को ही शब्द कहा है। लोक-व्यवहार में भी सार्थक 'ध्वनि' को शब्द समझा जाता है।

भाषा-विज्ञान में 'ध्वनि-भाषाध्वनि' (Speech-Sound)–भाषा-विज्ञान में 'ध्वनि' को भाषा-ध्वनि कहते हैं। ध्वनि-विज्ञान के क्षेत्र में इसी भाषा-ध्वनि को परिगृहीत किया जाता है। भाषाशास्त्रियों ने इसको अनेक प्रकार से परिभाषित किया है।

प्रसिद्ध भाषाविद् डॉ0 सुनीति कुमार चटर्जी ने भाषा-ध्वनि की परिभाषा प्रस्तुत करते हुये कहा है—"मानव के ध्वनियन्त्र द्वारा उत्पादित तथा निश्चित श्रवण गुणों से युक्त ध्वनि को 'भाषा-ध्वनि' कहते हैं।" प्रो0 डैनियल जोन्स ने ध्वनि को इस प्रकार परिभाषित किया है—"ध्वनि मनुष्य के विकल्प-हीन, नियतस्थान और निश्चित प्रयत्न द्वारा उत्पादित और श्रोत्रिन्द्रिय द्वारा अविकल्प रूप से शब्द-लहरी है"।

यहाँ इस बात को दृष्टिगत करना आवश्यक है कि भाषा-विज्ञान में "ध्वनि-शब्द' को सामान्य ध्वनियों से भिन्न बताने के लिये उसे भाषा-ध्वनि (Speech-Sound) कहा जाता है।

डॉ0 चटर्जी सहित कुछ विद्वानों ने भाषा-ध्वनि को ही संध्वनि कहा है जबकि कुछ विद्वानों ने भाषा-ध्वनि को ध्वनि-ग्राम का पर्याय माना है।

ध्वनि-ग्राम (Phoneme) (स्वनिम)–ध्वनि-ग्राम को ध्वनि-श्रेणी, ध्वनि-तत्त्व आदि नामों से भी अभिहित किया जाता है। विद्वानों ने ध्वनि-ग्राम को भी परिभाषित करने का प्रयास किया है ध्वनि-ग्राम-विज्ञान (स्वनिम विज्ञान) के अनेक नाम हैं पर उनमें से स्वनिम-विज्ञान और ध्वनि-ग्राम-विज्ञान अधिक प्रचलित है।

वस्तुतः ध्वनिग्राम परस्पर समान भाषा-ध्वनियों की प्रतीक उस ध्वनि को कहते हैं जो खण्डित न हो सके। संक्षेप में कहा जा सकता है कि किसी प्रकार की विशेष भाषा में कुछ ध्वनियों का ऐसा समूह (परिवार) होता है जिसकी ध्वनियाँ अपनी विशेषताओं के कारण परस्पर सम्बद्ध रहती है और उन्हें ही ध्वनि-ग्राम कहा जाता है। उदाहरण के लिये—'कमल', 'कठोर', 'काल', 'कूप', 'कुसुम' आदि शब्दों को लिया जा सकता है, जिनमें प्रारम्भिक ध्वनि 'क्' है। प्रत्येक शब्द में 'क्' की एक विशेष ध्वनि है। इसके कारण प्रत्येक 'क्' के श्रावक-गुण (Acovvstic Quality)अपने-अपने हैं किन्तु समस्त ध्वनियों के लिये एक ध्वनि-ग्राम (एक परिवार) है। जिस प्रकार परिवार का प्रत्येक सदस्य अपना स्वतन्त्र अस्तित्व और व्यक्तित्व रखते हुये अपने परिवार से बँधा रहता है, उसी प्रकार एक ध्वनि-ग्राम में अनेक भाषा-ध्वनियों का अस्तित्व रहता है। ध्वनि-ग्राम में इन समस्त ध्वनियों का अध्ययन होता है।

ध्वनि-विज्ञान में तीन बातों की मुख्यता–ध्वनि-विज्ञान में तीन बातें मुख्य रूप से सिखायी जाती हैं—1. विश्लेषण (Analysis) 2. वर्णन (Desecription) 3. वर्गीकरण (Classification)।

1. विश्लेषण (Analysis)–ध्वनि के उच्चारण में वाग्यन्त्र की प्रमुख भूमिका होती है। अतः ध्वनि-विज्ञान में वाग्यन्त्र की रचना और उसके कार्यों का ज्ञान होता ह। अतः उसके आधार पर ध्वनियों का विश्लेषण किया जा सकता है। सूक्ष्म विश्लेषण के आधार पर ध्वनियों का सूक्ष्म से सूक्ष्म उच्चारण किया ज़ा सकता है।

2. वर्णन (Desecription)–इसमें ध्वनियों के उच्चारण स्थान तथा उच्चारण के प्रयत्न का बोध होता है। इसको इस प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं। कि ध्वनि-विज्ञान के क्षेत्र में वर्णन इसलिये आवश्यक है क्योंकि इसके द्वारा किसी ध्वनि का किस स्थान और किस प्रयत्न से उच्चारण होता है—इसका सम्यक् बोध होता है।

3. वर्गीकरण (Classification)–ध्वनियाँ अनेक हैं और उन ध्वनियों से सम्बन्धित उच्चारण स्थान तथा प्रयत्न (उच्चारण प्रयत्न) अनेक होते हैं। अतः ध्वनियों के वर्गीकरण के ये दो आधार मुख्य होते हैं।

ध्वनिवर्गीकरण के सिद्धान्त (आधार)

ध्वनि का वर्गीकरण (Classification of Sound)–भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में जिस प्रकार ध्वनियों के स्वरूप, महत्त्व आदि का विचार महनीय है, उसी प्रकार ध्वनियों का वर्गीकरण (विभाजन) भी नितान्त आवश्यक है। इससे ध्वनियों की समता और विषमता की जानकारी में सहायता मिलती है। यों तो सभी प्राणी किसी न किसी ध्वनि का उच्चारण करते हैं पर उनकी ध्वनियों के कारण किसी भाषा का निर्माण नहीं होता। समस्त प्राणियों में केवल मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जिसके वाक्यन्त्र में विभिन्न ध्वनियों के उत्पादन की क्षमता है। चूँकि विभिन्न ध्वनियाँ वाग्यन्त्र के विभिन्न स्थानो, मुख के विभिन्न अवयवों तथा प्रयत्नों से उच्चरित होती हैं अतः वे ही (स्थान आदि) ध्वनियों के विभाजन के आधार बनते हैं।

ध्वनियों के वर्गीकरण के सन्दर्भ में कई समस्यायें खड़ी होती हैं। ये समस्यायें (प्रश्न) निराधार नहीं है। ध्वनियों का उच्चारण किया जाता है और वे वक्ता के मुख से उच्चरित होकर श्रोता के कान तक पहुँचती हैं तथा (वे) श्रोता द्वारा सुनी जाती है। ऐसी स्थिति में इन तीनों को आधार बनाकर ध्वनियों का वर्गीकरण किया जा सकता है। परन्तु डॉ0 भोलानाथ तिवारी आदि के अनुसार उक्त को आधार बनाना भी निरापद नहीं है।

ध्वनि-वर्गीकरण के मुख्य आधार–विद्वानों ने ध्वनि-वर्गीकरण के अधोलिखित तीन आधार माने हैं—(1) स्थान (2) प्रयत्न (3) करण।

इन तीनों के विषय में ज्ञान आवश्यक है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो इन तीनों की मुख्य भूमिका है और इन्हीं को दृष्टिगत करने पर ध्वनितगत भेद (वर्ग) स्पष्ट हो जाता है।

1. स्थान–जैसा कि सर्वविदित है कि ध्वनियों के उच्चारण में निःश्वास वायु को जहाँ अवरुद्ध या बाधित किया जाता है, वही ध्वनि का स्थान (उच्चारण-स्थान) कहलाता है। मुख में ओष्ठ से लेकर कष्ठ तक अनेक ऐसे स्थान है जहाँ से ध्वनियों का उच्चारण होता है। वस्तुतः ध्वनियों के उच्चारण में ध्वनियन्त्र के जिन विशेष अवयवों से सहायता ली जाती है वे ध्वनि के उच्चारण के स्थान कहलाते हैं। अथवा वाग्यन्त्र के उन अवयवों को स्थान कहा जाता है जो अपने स्थान पर स्थिर रहते हैं। इस प्रकार उच्चारण-स्थान हैं—1. कण्ठ, 2. तालु, 3. मूर्धा, 4. दन्त, 5. ओष्ठ।

भाषा-वैज्ञानिक इसके अलावा 'काकल' तथा 'वर्त्स' को भी उच्चारण-स्थान मानते हैं।

उपर्युक्त वाग्यन्त्र के अवयव के पास जिह्वा जाती है या उनका स्पर्श करती है और उसी के कारण ध्वनियों का उच्चारण होता है। वास्तविकता यह है कि ध्वनियों का उच्चारण जिह्वा की गतिशीलता पर निर्भर करता है। उसकी गतिशीलता के अभाव में

ध्वनियों का उच्चारण सम्भव नहीं हो सकता। उक्त उच्चारण स्थानों से उच्चरित होने वाली ध्वनियों तथा उनके नाम ये हैं—

1. **कण्ठ्य**–कण्ठ्य-ध्वनियॉ वे है जिनके उच्चारण में कण्ठ का स्पर्श होता है। इसमें इन ध्वनियों के उच्चारण के समय जिह्वा का पिछला भाग कोमल तालु का स्पर्श करता है। कण्ठय ध्वनियों के अन्तर्गत अ, क, ख, ग, घ, ह तथा विसर्ग (विसर्जनीय) आते हैं—'**अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः**'।

2. **तालव्य**–तालव्य वे ध्वनियाँ हैं जिनके उच्चारण में जिह्वा का तालु से स्पर्श होता है। इन ध्वनियों के उच्चारण के समय जिह्वाग्र कठोर तालु का स्पर्श करता है—'**इचुयशानां तालु**' अर्थात् इ, च, छ, ज, झ तथा श का उच्चारण-स्थान तालु है।

3. **मूर्धन्य**–मूर्धन्य ध्वनियों के उच्चारण में जिह्वा की नोक प्रायः उलटकर मूर्धा का स्पर्श करती है। इसमें जिह्वाग्र कठोर तालु का स्पर्श करता है—''**ऋटुरषाणां मूर्धा**' अर्थात् ऋ, ट, ठ, ड, ढ, र तथा 'ष' का उच्चारण-स्थान मूर्धा है।

4. **दन्त्य**–दन्त का स्पर्श जिह्वा के द्वारा होने पर उससे उच्चरित होने वाली ध्वनियों को दन्त्य कहा जाता है—'**ऌतुलसानां दन्ताः**' ऌ, त, थ, द, ध, ल तथा स का उच्चारण-स्थान दन्त है।

5. **ओष्ठ्य**–जब जिह्वा ओठों का स्पर्श करती है तो उससे उच्चरित होने वाली ध्वनियों को ओष्ठ्य कहते हैं—'**उपूपध्मानीयानाम् ओष्ठौ**'। इसमें ओष्ठ्य ध्वनियों के दो भेद हो जाते हैं—1. दन्त्योष्ठ्य, 2. द्वयोष्ठ्य।

6. **काकल्य**–काकल्य ध्वनि के उच्चारण में मुखविवर खुला रहता है और निःश्वास बन्द कण्ठद्वार को वेग से खोलकर बाहर निकलता है।

7. **वर्त्स्य**–वर्त्स्य ध्वनियों के उच्चारण में जिह्वा की नोक दन्त-पंक्तियों के ऊपरी भाग का स्पर्श करती है।

विशेष—(क) **नासिका**–पाँचों वर्गों के पाँचवे अक्षरों ङ्, ञ्, ण्, न्, म् का उच्चारण इनके वर्गों के उच्चारण-स्थान के साथ नासिका से भी होता है—'**ञ म ङ ण नानां नासिका च**'।

(ख) **कण्ठतालु**—ए, ऐ का उच्चारण कण्ठ और तालु से होता है—'एदैतोः कण्ठतालु'।

(ग) **कण्ठ तथा ओष्ठ**–ओ तथा औ का उच्चारण स्थान कण्ठ तथा ओष्ठ दोनों है—'**ओदौतोः कण्ठोष्ठम्**'।

(घ) **दन्त्योष्ठ्य**—जिन ध्वनियों के उच्चारण में ऊपर के दाँत तथा नीचे के ओंठ का प्रयोग होता है उन्हें दन्त्योष्ठ्य कहते हैं। वकार का उच्चारण स्थान दन्त और ओष्ठ दोनों है—**'वकारस्य दन्तोष्ठम्'**।

(ङ) जिन ध्वनियों के उच्चारण में जिह्वा के मूल का स्पर्श होता है उन्हें जिह्वामूलीय कहा जाता है। जैसे —≍क≍ख अर्थात् क, ख आदि।

वर्णोच्चारण-स्थान-बोधक कोष्ठ

स्थान	स्पर्श अननुनासिक	अनुनासिक स्पर्श	अन्तःस्थ	ऊष्म	ह्रस्व स्वर	दीर्घ स्वर
कण्ठ	क् ख् ग् घ्	ङ्	—	ह्	अ	आ
तालु	च् छ् ज् झ्	ञ्	य्	श्	इ	ई
मूर्धा	ट् ठ ड् ढ्	ण्	र्	ष्	ऋ	ॠ
दन्त	त् थ् द् ध्	न्	ल्	स्	ऌ	—
ओष्ठ	प् फ् ब् भ्	म्	—	—	उ	ऊ
दन्तोष्ठ	—	—	व्	—	—	—
कण्ठतालु	—	—	—	—	—	ए, ऐ
कण्ठोष्ठ	—	—	—	—	—	ओ, औ

प्रयत्न–ध्वनियों के उच्चारण के लिये वायु (निःश्वास) को रोककर या कई प्रकार से विकृत करना पड़ता है। इसी क्रिया को प्रयत्न कहा जाता है। प्रत्येक ध्वनि के उच्चारण में कोई न कोई प्रयत्न करना पड़ता है। आरण्यक, प्रातिशाख्य, व्याकरण, आदि ग्रन्थों में प्रयत्न का विशेष प्रकार से विचार किया गया है। प्रयत्न के दो भेद हाते हैं—1. आभ्यन्तर, 2. बाह्य।

आभ्यन्तर-प्रयत्न–आभ्यन्तर-प्रयत्न को 'आस्य' प्रयत्न या 'प्रदान' भी कहा जाता है। आस्य का अर्थ मुख में होने वाला है। मुख के भीतर होने वाले प्रयत्न को आभ्यन्तर प्रयत्न कहा जाता है। मूर्धा तक पहुँच कर लौटा हुआ वायु मुख के तालु स्थानों से टकराता हुआ बाहर निकलता है, तभी वर्ण उत्पन्न होते हैं। विविध वर्णों के उच्चारण हेतु वायु का तालु आदि से सटकर निकलना आवश्यक है। आभ्यन्तर प्रयत्न का क्षेत्र निश्चित नहीं है। पतञ्जलि-महाभाष्य में ओष्ठ से काकल तक आभ्यन्तर प्रयत्न का क्षेत्र माना गया है।

आभ्यन्तर-प्रयन्त के अन्तर्गत कौन-कौन से प्रयत्न गृहीत किये जायँ—इस विषय में भी विद्वानों में मतभेद है। डॉ0 भोलाशंकर तिवारी ने इस विषय में अपने भाषा-विज्ञान नामक ग्रन्थ में प्रकाश डाला है (द्रष्टव्य पृष्ठ-316)।

यहाँ इस सन्दर्भ में यह ध्यान देने योग्य है। कि ध्वनियों का उच्चारण प्रयत्नविशेष से किया जाता है। किन्तु इसके साथ ही उक्त प्रयत्न स्थानविशेष या अङ्गविशेष से सम्बद्ध होता है। जिस प्रकार एक ध्वनि के लिये कई प्रयत्न अपेक्षित होते हैं उसी प्रकार अनेक प्रयत्न के लिये अनेक स्थान भी अपेक्षित होते हैं।

आभ्यन्तर प्रयत्न के भेद–आभ्यन्तर प्रयत्न पाँच प्रकार का होता है। इसके पाँच भेद ये हैं—1. स्पृष्ट, 2. ईषत्सपृष्ट, 3. ईषत्विवृत, 4. विवृत 5. संवृत।

प्रयत्न तथा उनसे सम्बद्ध वर्ण (ध्वनि)–उन प्रयत्नों का स्वरूप और उनसे सम्बद्ध वर्णों का विवेचन अधोलिखित है—

1. स्पृष्ट–स्पृष्ट शब्द का अर्थ है स्पर्श किया हुआ। जिस वर्ण का उच्चारण करने में जिह्वा उच्चारण - स्थान का पूरा स्पर्श करती है, उसे 'स्पर्श वर्ण' कहा जाता है। स्पर्श वर्णों का (कवर्ग चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग एवं पवर्ग पाँच वर्गों) का आभ्यन्तरप्रयत्न स्पृष्ट है। इसमें जिह्वा कष्ठ से लेकर ओष्ठ तक अनेक स्थानों का स्पर्श करती है।

2. ईषत्स्पृष्ट–अन्तःस्थ वर्णों (य्, व्, र्, ल्) के उच्चारणहेतु जिह्वा को उच्चारण स्थान का थोड़ा-सा स्पर्श करने का प्रयत्न करना पड़ता है। अतः इस प्रयत्न को 'ईषत्स्पृष्ट' प्रयत्न कहा जाता है। ईषत् = थोड़ा, स्पृष्ट = स्पर्श करने वाला, प्रयत्न।

3. ईषद्विवृत–उष्म वर्णों (श्, ष्, स्, ह्) के उच्चारण में जिह्वा उच्चारणस्थान से थोड़ा अलग रहती है, अतः इन वर्णों का 'ईषद् विवृत' आभ्यन्तर प्रयत्न होता है। कण्ठ का थोड़ा-सा विकास करके इनके उच्चारण किये जाने से भी इनका यह प्रयत्न मान्य है। ईषत् = थोड़ा, विवृत = खुला हुआ।

4. विवृत–स्वरों के उच्चारण में जिह्वा उच्चारण-स्थान से दूर रहती है तथा कण्ठ विवृत अर्थात् पूरा खुला होता है, अतः स्वरों का प्रयत्न 'विवृत' होता है।

5. संवृत–संवृत प्रयत्न में जिह्वा कण्ठ से हटकर भी कुछ निकट रहती है तथा कण्ठ संवृत अर्थात् बन्द, ढँका सा रहता है। केवल ह्रस्व 'अ' वर्ण का संवृत प्रयत्न है। वह भी तब, जब प्रयोग सिद्ध हो गया हो। यदि प्रयोग सिद्ध किया जा रहा है, अर्थात् वह प्रक्रिया दशा में है, तो ह्रस्व 'अ' का भी विवृत प्रयत्न ही होगा।

बाह्य-प्रयत्न–मुख के बाहर जो प्रयत्न होता है, उसे बाह्य-प्रयत्न कहते हैं और उसको 'प्रकृति' या 'अनुप्रदान' भी कहा जाता है। मुख से बाहर काकलक (टेटुआ) तक के प्रयत्न बाह्य-प्रयत्न के अन्तर्गत आते हैं।

बाह्य-प्रयत्न के भेद–बाह्य-प्रयत्न के ग्यारह भेद होते हैं—1. विवार, 2. संवार, 3. श्वास, 4. नाद, 5. अघोष, 6. घोष, 7. अल्पप्राण, 8. महाप्राण, 9. उदात्त, 10. अनुदात्त, 11. स्वरित।

1. विवार–विवार का अर्थ है खुलना। इस प्रयत्न में नाभि से उठते हुये वायु से गलविवर पूरा खुल जाता है और अलिजिह्वा श्वास-नलिका से हट जाती है। **2. संवार**–संवार का अर्थ है बन्द होना। इसमें स्वर-तन्त्रियाँ बन्द रहती हैं। वस्तुतः इस प्रयत्न से अलिजिह्वा श्वास-नलिका से अलग नहीं होती और गलविवार सङ्कुचित रहता है। **3. श्वास**–स्वर-तन्त्रियों की स्थिति दो प्रकार की होती है–एक खुली और दूसरी बन्द। पहली में श्वास-निःश्वास की प्रक्रिया चलती रहती है। अतः निःश्वास का निर्बाध निकलना इस प्रयत्न के अन्तर्गत आता है। **4. नाद**–इस प्रयत्न में श्वास का आगमन विशेष ध्वनि से युक्त हो जाता है। स्वर-तन्त्रियों के कम्पन से ही नाद उत्पन्न होता है। **5. अघोष**–वस्तुतः श्वास ही 'अघोष' है। इनके उच्चारण में घोष नहीं होता। **6. घोष**–नाद का ही दूसरा नाम 'घोष' है। **7. अल्पप्राण**–प्राण का अर्थ है वायु और अल्प का अर्थ है थोड़ा, अर्थात् जिनके उच्चारण में प्राण-वायु की अल्पता होती है, उन्हें 'अल्पप्राण' कहते हैं। **8. महाप्राण**–इस प्रयत्न में वायु का प्रयोग अधिक होता है, अर्थात् जिनके उच्चारण में प्राण-वायु की अधिकता होती है, उन्हें 'महाप्राण' कहा जाता है। **9. उदात्त**–उदात्त का अर्थ है ऊपर उठा हुआ, अर्थात् आरोही स्वर। **10. अनुदात्त**–अनुदात्त का अर्थ है नीचे गिरा हुआ, अर्थात् अवरोही स्वर। **11. स्वरित**–स्वरित का अर्थ होता है सम, अर्थात् जो स्वर न आरोही हो और न अवरोही, वह 'स्वरित' है। **विशेष**–इन तीनों का सम्बन्ध स्वरों से है।

वर्णों के बाह्य प्रयत्न

1. 'खर्' प्रत्याहार—ख्, फ्, छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त्, क्, प् अर्थात् वर्गों के प्रथम तथा द्वितीय वर्णों के बाह्य-प्रयत्न विवार, श्वास, अघोष है। 2. वर्गों के प्रथम, तृतीय तथा 'यण्—य्, व्, र्, ल् का बाह्यप्रयत्न अल्पप्राण है। 3. वर्गों के द्वितीय, चतुर्थ तथा 'शल्' (श्, ष्, स्) का बाह्य प्रयत्न महाप्राण, विवार, श्वास तथा अघोष है। 4. 'ह' का बाह्यप्रयत्न महाप्राण, संवार, नाद, घोष है। 5. स्वरों अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ऌ, ए, ऐ का बाह्य प्रयत्न अल्पप्राण, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित है। 6. 'अ' (ह्रस्व) स्वर के प्रयोग में अल्पप्राण, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित है। निम्नाङ्कित कोष्ठक से सभी वर्गों के आभ्यान्तर तथा बाह्य प्रयत्नों का बोध हो जायगा—

प्रयत्नबोधक कोष्ठक

वर्ण	सञ्ज्ञा	आभ्यन्तर प्रयत्न	बाह्य प्रयत्न
क् च् ट् त् प्	स्पर्श	स्पष्ट	अल्पप्राण-विवार, श्वास, अघोष
ख् छ् ठ् थ् फ्	स्पर्श	स्पष्ट	महाप्राण-विवार, श्वास, अघोष
ग् ज् ड् द् ब्	स्पर्श	स्पष्ट	अल्पप्राण-संवार, नाद, घोष
घ् झ् ढ् ध् भ्	स्पर्श	स्पष्ट	महाप्राण-संवार, नाद, घोष
ङ् ञ् ण् न् म्	स्पर्श	स्पष्ट	अल्पप्राण-संवार, नाद, घोष
य् र् ल् व्	अन्तस्थः	ईषत्स्पृष्ट	अल्पप्राण-संवार, नाद, घोष
श् ष् स्	ऊष्म	ईषद्विवृत	महाप्राण-विवार, श्वास, अघोष
ह्	ऊष्म	ईषद्विवृत	महाप्राण-संवार, नाद, घोष
अ (केवल प्रक्रिया में) आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ए ओ ऐ औ	स्वर	विवृत	अल्पप्राण, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित
(अ ह्रस्व) सिद्ध प्रयोग में	स्वर	संवृत	अल्पप्राण, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित

विशेष - लघुसिद्धान्तकौमुदी में वर्णों के प्रयत्नबोधक ये वचन हैं–बाह्यप्रयत्नस्त्वेकादशधा विवारः, संवारः श्वासो नादो घोषोऽघोषोऽल्पप्राणो महाप्राण, उदात्तोऽनुदात्तः स्वरितश्चेति। खरो विवाराः श्वासा अघोषाश्च। हशः संवारा नादा घोषाश्च। वर्गाणां प्रथमतृतीयपञ्चमा यणश्चाल्यप्राणाः। वर्गाणां द्वितीय-चतुर्थौ शलश्च महाप्राणः।

करण–'करण' उन इन्द्रियों (इन्द्रियों के अवयवों) को कहते हैं, जो वर्णों के उच्चारण में गतिशील होते हैं। 'स्थान' और 'करण' में अन्तर यह है कि उच्चारण-स्थान (जैसे–कण्ठ, तालु) आदि स्थिर होता है और 'करण' अस्थिर अर्थात् गतिशील होता है। वर्णों के उच्चारण में करण भी आधार बनते हैं। 'करण' के निम्नाङ्कित भेद माने जाते हैं—1. अधरोष्ठ, 2. जिह्वा, 3. कोमल तालु, 4. स्वर-तन्त्री।

1. अधरोष्ठ–ऊपर का ओष्ठ तो सामान्यतः अचल रहता है, परन्तु अधरोष्ठ (नीचे का ओष्ठ) विविध रूपों को धारण करता है। वह कभी ऊपर के ओष्ठ का स्पर्श करता है और कभी ऊपर की दन्त-पङ्क्तियों का। अपनी इसी गतिशीलता के कारण वह 'करण' में परिगणित होता है।

2. जिह्वा–समस्त करणों में जिह्वा का स्थाना महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि वही नीचे-ऊपर, आगे-पीछे गतिशील होकर सबसे अधिक ध्वनियाँ उत्पन्न करती है।

3. कोमल तालु–तालु की दो स्थिति है–वह उच्चारण-स्थान भी है और 'करण' भी। यदि उसकी तुलना जिह्वा से की जाय तो वह स्थान की कोटि में आता है, क्योंकि जिह्वा का उससे स्पर्श होने पर अनेक ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं। किन्तु वह ऊपर-नीचे जाकर स्वयं अनेक वर्णों के उच्चारण में सहायक भी बनता है।

4. स्वर-तन्त्री–करणों में जिह्वा के बाद स्वर-तन्त्रियों का महनीय स्थान है। स्वर-तन्त्रियों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनमें ध्वनियों के परिवर्तन का अद्‌भुत सामर्थ्य है। वे कभी खुलकर, कभी बन्द होकर तथा कभी कम्पन के द्वारा ध्वनि-परिवर्तन में सहयोग करती हैं।

स्वर तथा व्यञ्जन

संस्कृत वर्णमाला-वस्तुतः संस्कृत-वर्णमाला स्वरों एवं व्यञ्जनों का समूह है। अधोलिखित चादह माहेश्वर सूत्र समस्त स्वरों तथा व्यञ्जनों के स्वरूप का प्रकाशन करते हैं। वे हैं—वर्णमाला का शाब्दिक अर्थ है-वर्णो का सङ्ग्रह, परन्तु संस्कृत में वर्णमाला के लिए 'वर्णराशि' तथा 'वर्णसमाम्नाय' शब्द प्रयुक्त होता है। जहाँ 'अकारादि' वर्णसमुदाय का अभ्यास (पाठ) किया जाता है, वह 'वर्णसमाम्नाय' कहलाता है। 'वर्णसमाम्नाय' को 'अक्षरसमाम्नाय' भी कहते हैं। पाणिनि ने निम्नाङ्कित चौदह सूत्रों में स्वर-व्यञ्जन वर्णों का विवरण दिया है-

1. अइउण्, 2. ऋलृक् , 3. एओङ् , 4.ऐऔच्, 5. हयवरट्, 6. लण्, 7.ञमङणनम्, 8. झभञ्, 9. घढधष्, 10. जबगडदश्, 11. खफछठथचटतव्,12. कपय्, 13. शषसर्, 14. हल् ।

व्याकरण के क्षेत्र में इन चौदह सूत्रों का अद्वितीय महत्व स्वीकार किया गया है क्योंकि ये वर्णमाला होने के साथ-साथ पाणिनि व्याकरण व्याकरण में सूत्र के निर्माणर्थ सुदृढ़ आधारभूमि भी हैं। इनसे जहाँ एक ओर संस्कृत वर्णमाला का बोध होता हैं, वहीं दूसरी ओर इन्हीं के द्वारा बने हुये बयालीस प्रत्याहार पाणिनिसूत्रों की आधारशिला कार्य करते हैं।

उक्त चौदह सूत्रों के प्रथम चार सूत्रों में नौ स्वरों (अ,इ,उ,ऋ,लृ,ए,ओ,ऐ,औ) का कथन है। शेष दस सूत्रों में तैंतीस व्यञ्जनों का वर्णन है।

स्वर तथा व्यञ्जन (Vowels and Consonants)–ध्वनियों का सबसे प्राचीन और प्रचलित वर्गीकरण स्वर तथा व्यञ्जन के नाम से जाना जाता है। सम्प्रति इन दोनों (स्वरों तथा व्यञ्जनों) के स्वरूप, महत्त्व, भेद आदि का ज्ञान आवश्यक है।

स्वर–'स्वर' शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ–'पचाद्यच्' सूत्र से करण अर्थ में, भ्वादिगणीय 'स्वृ' शब्दोपतापयोः धातु से 'अच्' प्रत्यय लगाकर 'स्वर' शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ होता है (स्वरन्ति शब्दायन्ते)। अमरकोष के टीकाकार श्रीभानुजी दीक्षित ने उक्त व्युत्पत्ति के अतिरिक्त 'स्वर' शब्द की दो और व्युत्पत्तियाँ बतायी है—तदनुसार 'स्वृ' धातु से 'पुंसि' 3।3।118 सूत्र से 'घ' प्रत्यय लगाकर 'स्वर' शब्द बनता है जिसका अर्थ है 'स्वर्यन्ते अर्थाः एभिः' अर्थात् जिससे अर्थ का प्रतिपादन होता है वह 'स्वर' है। अथवा 'राजृदीप्तौ' धातु से 'अन्येभ्योऽपि' वार्तिक से 'ड' प्रत्यय लगाकर 'स्वर' शब्द बनता है जिसका अर्थ है—'स्वेन राजन्ते' अर्थात् जो (किसी की सहातया के बिना) स्वयं सुशोभित होता है, वह स्वर है। श्री दीक्षित के अनुसार भी स्वर से अभिप्राय 'अच्' (अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ) से है। इसीलिये उन्होंने 'स्वरा अचः' कहा है।

अन्य कोष-ग्रन्थों के अनुसार स्वर के 'शब्द', 'आवाज', सङ्गीत के 'सुर', 'ध्वनि', 'अक्षर' आदि अनेक अर्थ होते हैं। यहाँ स्वर का अर्थ वर्ण-भेद 'स्वर' से है।

स्वर की परिभाषा–भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में भारतीय तथा पाश्चात्त्य भाषाविदों ने 'स्वर' एवं 'व्यञ्जन' की भी परिभाषायें की हैं, उनमें से कुछ का प्रस्तुतीकरण अपेक्षित है।

1. प्रख्यात भारतीय भाषाविद् डॉ0 मङ्गलदेव शास्त्री ने 'स्वर' की परिभाषा दी है—

"स्वर ऐसी सघोष आवाज को कहते हैं, जिसके उच्चारण में वायु के प्रवाह की गति मुख में बिना किसी रुकावट के होती है और किसी प्रकार का सुनने में आने वाला मौखिक अवयवों का घर्षण नहीं होता। तालु की ओर जिह्वा तथा स्थानों के बीच में वायु के निकल जाने के लिये इतना पर्याप्त अवकाश रहता है कि अवयवों का घर्षण या वायु का अवरोध नहीं होने पाता।"—तुलनात्मक भाषाशास्त्र, पृष्ठ 188।

2. 'डिक्शनरी आफ लिंग्विस्टिक्स' में 'स्वर' की संक्षिप्त परिभाषा इस प्रकार दी गयी है—

"स्वर वह ध्वनि है जिसके उत्पादन (उच्चारण) में मुख-विवर खुला रहता है, जिससे श्वास-वायु बिना रुकावट के बाहर निकल जाती है।" "A Vowel is a sound for whose production....................................but not necessarily voiced."

3. विख्यात भाषा-वैज्ञानिक ब्लीख एवं ट्रेग ने 'स्वर' की परिभाषा इस प्रकार दी है—

"स्वर उन ध्वनियों को कहते हैं, जो मुख में किसी प्रकार अवरुद्ध हुये बिना उच्चरित होते हैं। फेफड़ों से आने वाली वायु ओष्ठ और उसके आगे तक कहीं अवरुद्ध नहीं होती। इसको कहीं बहुत संकीर्ण मार्ग से नहीं निकलना पड़ता है। वह मुख-विवर की स्वर-सीमा से ऊपर नहीं जाती है और इसमें स्वर-तन्त्री से ऊपर वाले किसी वाग्-अवयव में कम्पन नहीं होता है। यह साधारणतया घोष ध्वनि होती है, परन्तु ऐसा अनिवार्य नहीं है।"—भाषा-विज्ञान एवं भाषाशास्त्र, पृ0 156।

'स्वर' की विशेषतायें–(1) पतञ्जलि के अनुसार जो अन्य की सहायता के बिना स्वयं सुशोभित होता है, उसे 'स्वर' कहते हैं—'यः स्वयं राजते तं तु स्वरमाह पतञ्जलिः।' (2) 'स्वर' की सहायता से ही व्यञ्जन का उच्चारण होता है। स्वर को स्वर इसीलिये कहा जाता है, क्योंकि इसकी सहायता से व्यञ्जन का उच्चारण होता है—'स्वर्यते शब्द्यतेऽनेन व्यञ्जनमितिकरनेऽच् प्रत्यय।'—पाणिनीयशिक्षा-पञ्जिका भाष्य। (3) 'स्वर' किसी अन्य वर्ण की सहायता के बिना प्रकाशित (उच्चरित) होते हैं—'स्वर्यन्ते शब्द्यन्ते इति स्वराः।'—ऋक्-प्रातिशाख्य। (4) स्वरूप की दृष्टि से सभी 'स्वर' सघोष होते हैं अर्थात् स्वरों के उच्चारण में स्वर-तन्त्रियों में अपेक्षाकृत अधिक कम्पन होता है। (5) स्वरों के उच्चारण में मुख-विवर में जिह्वा विभिन्न आकारों को ग्रहण कर श्वास-वायु के निकलने की स्थिति में अन्तर ला देती है तथा ऊपर या नीचे होकर मुख-विवर को स्वल्प या अधिक खोल देती है। (6) (क) स्वरों का उच्चारण देर तक किया जा सकता है और उन्हें अपेक्षाकृत दूर से सुना जा सकता है। (ख) 'स्वर' के उच्चारण के समय जिह्वा तथा ओष्ठ कहीं भी स्पर्श नहीं करती है। (7) स्वराघात वहन करने की क्षमता केवल स्वरों में होती है। (8) व्यञ्जनों से मिलकर स्वर अक्षर बना सकते हैं।

व्यञ्जन

व्युत्पत्ति एवं अर्थ–'व्यञ्जन' शब्द 'वि' उपसर्गपूर्वक 'अञ्ज्' धातु से करण अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय के संयोग से बनता है। 'अञ्ज्' धातु का एक अर्थ प्रकट होना (व्यक्त होना) भी है। कोश-ग्रन्थों के अनुसार 'व्यञ्जन' के अनेक अर्थ होते हैं, जिनमें एक अर्थ व्यञ्जन-अक्षर भी है।

परिभाषा–भाषाविदों ने 'व्यञ्जन' को परिभाषित किया है। 'व्यञ्जन' की एक संक्षिप्त परिभाषा यह है—

1. 'व्यञ्जन' वह ध्वनि है जिसका उच्चारण करते समय निःश्वास में कहीं न कहीं अवरोध होता है अर्थात् जिसके उच्चारण में वायु अबाध गति से बाहर नहीं निकल पाती।

2. वैयाकरण पतञ्जलि ने यह माना है कि स्वर (अच्) के बिना 'व्यञ्जन' का उच्चारण भी नहीं हो सकता—'न पुनरन्तरेणाचं व्यञ्जनस्योच्चारणमपि भवति।'

3. विख्यात पाश्चात्य भाषाविद् ब्लाख और ट्रेगर ने 'व्यञ्जन' की परिभाषा इस प्रकार की है—

"व्यञ्जन वह ध्वनि है, जिसके उच्चारण में फेफड़ों से आने वाली वायु स्वर-तन्त्री या मुख-मार्ग में कहीं पूर्णतया रोकी जाती है या अत्यन्त सङ्कुचित मार्ग से निकलती है या मुख-विवर को स्वर-सीमा से हटते हुये जिह्वा के एक या दोनों ओर से निकलती है

या स्वर-तन्त्री से ऊपर वाले किसी वाग्-अवयव में कम्पन पैदा करती है।" —भाषा-विज्ञान एवं भाषाशास्त्र, पृ0 156-57।

"A Consonant conversely, is a sound..............glottal organs to vibrate."—Outlines of Linguistic Analysis, P. 18 ।

4. मात्रा की दृष्टि से 'व्यञ्जन' को अर्द्धमात्रिक कहकर परिभाषित (विश्लेषित) किया गया है—'व्यञ्जनं चार्धमात्रिकम्।'

'व्यञ्जन' की विशेषतायें–(1) स्वर के बिना व्यञ्जन का उच्चारण नहीं होता है। व्यञ्जन एक प्रकार से स्वरों का अनुकरण करते हैं। (2) व्यञ्जनों के उच्चारण में मुख-विवर में श्वास-वायु कहीं न कहीं अवरुद्ध होती है या सङ्घर्ष करती है। (3) व्यञ्जनों का उच्चारण देर तक नहीं किया जा सकता। (4) व्यञ्जन सुनने में अधिक स्फुट नहीं होते हैं, अतः वे देर तक नहीं सुने जा सकते। (5) व्यञ्जन स्वराघात का वहन नहीं कर सकते हैं और न ही अक्षर बना सकते हैं। (6) पतञ्जलि ने व्यञ्जनों की स्थिति नटभार्या की स्थिति के समान कहा है। उनके अनुसार व्यञ्जन जिस स्वर से सम्बद्ध होते हैं उसी के अनुसार कार्य करते हैं—'व्यञ्जनानि पुन र्नटभार्यावाद् भवन्ति।...एवं व्यञ्जनस्यापि यस्य यस्याचः कार्यमुच्यते तं तं भजन्ते (महाभाष्य 6।1।21)। (7) पणिनीय व्याकरण में व्यञ्जन को 'हल्' प्रत्याहार के अन्तर्गत माना जाता है अर्थात् व्यञ्जन को 'हुल्' कहा जाता है। जिस शब्द के अन्त में हल् होता है उसे हलन्त कहते हैं जैसे—वाक्, सम्यक्, बलवान् आदि।

स्वर तथा व्यञ्जन में अन्तर–स्वर एवं व्यञ्जन में अन्तर होता है। इस अन्तर का विचार प्राचीन काल से होता रहा है। ऐसा अनुमान है कि सर्वप्रथम 'ऐतरेय' आरण्यक में दोनों के भेद (अन्तर) का उल्लेख है। दोनों के भेद को निम्नाङ्कित रूप से स्पष्ट किया जा सकता है—

(1) स्वर स्वतन्त्र होते हैं उनका उच्चारण दूसरे किसी अन्य वर्ण (ध्वनि) की सहाय्यता के बिना किया जाता है, इसके विपरीत स्वर (अच्) की सहायता के बिना व्यञ्जन का उच्चारण नहीं हो सकता। (2) स्वर में मुख-विवर में वायु अबाध (निर्बाधित) रहती है जबकि व्यञ्जन ध्वनि में वह (वायु) सबाध (बाधित) रहती है। (3) स्वर और व्यञ्जन दोनों की मुखरता में अन्तर होता है। स्वर-ध्वनि अधिक दूर तक सुनायी देने के कारण व्यञ्जन की अपेक्षा अधिक मुखर होती है इसीलिये सङ्गीतज्ञ 'व्यञ्जन' का आलाप न कर 'अ', 'अ' स्वर का आलाप करते हैं। (4) स्वर-ध्वनि व्यञ्जन की अपेक्षा अधिक मुखर होती है जबकि व्यञ्जन स्वर की अपेक्षा कम मुखर होते हैं। (4) वर्ण-समाम्नाय में स्वरों की गणना 'अच्' प्रत्याहार के अन्तर्गत की जाती है और व्यञ्जनों की गणना 'हल्' प्रत्याहार के अन्तर्गत की जाती है अर्थात् संस्कृत-व्याकरणमें स्वर को 'अच्' तथा व्यञ्जन को 'हल्' कहा जाता है। इसीलिये स्वरान्त शब्दों को जैसे-राम, हरि, विष्णु आदि को

अजन्त एवं व्यञ्जनान्त शब्दों जैसे—'बलवान्' 'शक्तिमान्', 'वाक्' आदि को 'हलन्त' कहा जाता है। स्वरादि शब्द को 'अजादि' एवं व्यञ्जनादि शब्द को 'हलादि' कहा जाता है। (5) व्यञ्जन में आधी मात्रा होती है जबकि 'स्वर' में कम से कम 'एक' या उससे अधिक 'दो' या 'तीन' मात्रा होती है। (6) पतञ्जलि ने स्वरों की स्वतन्त्र सत्ता मानी है और व्यञ्जनों को उनके अधीन कार्यकर्त्ता माना है। इससे यह सिद्ध होता है कि 'स्वर' प्रधान होते हैं और 'व्यञ्जन' अप्रधान। (7) सभी स्वरों का उच्चारण देर तक किया जा सकता है। इसके विपरीत व्यञ्जनों में केवल संघर्षी को छोड़कर शेष का उच्चारण देर तक नहीं किया जा सकता। (8) कुछ अपवादों को छोड़कर प्रायः सभी स्वर आक्षरिक होते हैं। व्यञ्जनों में सामान्यतः (कुछ अपवादों को छोड़कर) सभी अनाक्षरिक होते हैं। (9) कुछ अपवादों को छोड़कर अधिकांश स्वरों के उच्चारण में मुख-विवर में वायु गूँजती हुयी निर्बाध रूप से बाहर निकल जाती है। परन्तु अधिकांश व्यञ्जनों में (पूर्ण अथवा अपूर्ण) अवरोध वायु के मार्ग में व्यवधान खड़ा करता है।

स्वरों के भेद–मूल रूप से स्वर पाँच हैं—अ, इ, उ, ऋ, ऌ। इनके अतिरिक्त ए, ओ, ऐ, औ ये संयुक्त स्वर हैं। मात्रा-भेद से स्वर के सामान्यतः तीन भेद होते हैं—

1. ह्रस्व, 2. दीर्घ, 3. प्लुत।

मात्रा–मात्रा शब्द मापनार्थक 'मा' धातु से 'ऋ' प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। उच्चारण-काल के मापन की इकाई को मात्रा कहते हैं। अर्थात् किसी भी ध्वनि (वर्ण) के उच्चारण में जो समय लगता है वह मात्रा कहलाता है।

ह्रस्व–ह्रस्व शब्द न्यूनार्थक 'ह्रस्' धातु से 'वन्' प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। जिसका उच्चारण करने में एक मात्रा का समय लगे उसे 'ह्रस्व' कहते हैं। स्वाभाविक रूप से पलक गिरने में जितना समय लगता है, उतने ही समय को एक मात्रा कहा जाता है। अन्य स्वरों (दीर्घ, प्लुत) की अपेक्षा छोटे होने के कारण ये स्वर ह्रस्व कहे जाते हैं। ह्रस्व पाँच हैं—

अ, इ, उ, ऋ, तथा ऌ। ए ऐ, ओ और औ संयुक्त स्वर हैं अतः वे ह्रस्व नहीं होते।

दीर्घ–दीर्घ स्वर 'द्राघृ' (लम्बा करना, विस्तार करना) धातु से निष्पन्न होता है। इसका शाब्दिक अर्थ है लम्बा अथवा बड़ा। यहाँ पारिभाषिक अर्थ में दो मात्राओं वाले स्वर को दीर्घ कहा जाता है। दीर्घ स्वर के उच्चारण में ह्रस्व स्वर से दोगुना समय लगता है। दीर्घ स्वर ये हैं—आ, ई, ऊ, ऋ, ए, ऐ, ओ, तथा औ। ऌ को दीर्घ नहीं होता।

प्लुत–शब्द 'प्लु' (गति करना, लम्बा करना) धातु से 'क्त' प्रयत्न करने पर निष्पन्न होता है। तीन मात्रा वाले स्वर को प्लुत कहते हैं। प्लुत स्वर के उच्चारण में ह्रस्व स्वर से तिगुना समय लगता है। प्लुत स्वर के लिखने का कोई भिन्न-स्वरूप नहीं है अतः ह्रस्व या दीर्घ स्वर के आगे '3' का अङ्क लिखकर उससे प्रकट किया जाता है। जैसे अ3 इ3 आदि।

व्यवहार में प्लुत स्वर का प्रयोग बहुत कम होता है। केवल किसी को दूर से बुलाने आदि के अवसर पर ही इसका प्रयोग होता है। ह्रस्व तथा दीर्घ दोनों के प्लुत भेद हो सकते हैं।

उच्चारण-प्रकार की दृष्टि से उपर्युक्त ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत स्वरों में से प्रत्येक तीन-तीन प्रकार का होता है—(1) उदात्त (2) अनुदात (3) स्वरित।

उदात्त–उदात्त शब्द 'उत्' तथा 'आ' पूर्वक 'दा' धातु से 'क्त' प्रत्यय लगाने पर निष्पन्न होता है, जिसका शाब्दिक अर्थ है 'ऊपर उठाकर ग्रहण किया हुआ।' पारिभाषिक अर्थ में तालु आदि उच्चारण स्थानों के ऊर्ध्व भाग से उचरित होने वाले अच् (स्वर) को उदात्त कहते हैं। **अनुदात**–तालु आदि उच्चारण स्थानों के अधोभाग से निष्पन्न 'अच्' को अनुदात कहा जाता है। **स्वरित**–स्वरित शब्द 'स्वर' शब्द से 'इतच्' प्रत्यय लगने पर बनता है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिसमें स्वर उत्पन्न किया जाता है वह स्वरितसंज्ञक होता है। परन्तु पारिभाषिक अर्थ में जिसमें उदात्त-अनुदात्त स्वर का मेल हो उसे स्वरित कहते हैं। उदात्त, अनुदात्त और स्वरित का प्रयोग लौकिक संस्कृत से उठ-सा गया है। केवल वैदिक भाषा में इनका प्रयोग होता है।

उपर्युक्त नौ प्रकार के स्वरों में से प्रत्येक के पुनः दो-दो भेद होते हैं—(1) अनुनासिक (2) अननुनासिक।

अनुनासिक–मुख और नासिका दोनों से जिस वर्ण का उच्चारण हो वह अनुनासिक कहलाता है। अनुनासिक का चिह्न (ँ) है। जैसे—अँ, आ आनुनासिक कहे जायेंगे।

अननुनासिक–नासिका की सहायता के बिना (स्वाभाविक रूप से) उच्चरित होने वाले स्वर को अननुनासिक कहा जाता है। जैसे—'अ' यह अननुनासिक स्वर है।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अ, इ, उ, ऋ इन चार स्वरों में से प्रत्येक के अट्ठारह भेद होते हैं। 'ऌ' स्वर का दीर्घ भेद नहीं होता अतः उसके बारह भेद ही होते हैं। ए, ऐ, ओ, औ, इन चार स्वरों के ह्रस्व भेद के न होने से उनमें से प्रत्येक के बारह भेद होते हैं।

व्यञ्जन–व्यञ्जन शब्द 'वि' उपसर्गपूर्वक अञ्ज् (व्यक्त होना) धातु से 'अनट्' प्रत्यय लगने पर निष्पन्न होता है और उसका शाब्दिक अर्थ होता है (स्वर के द्वारा) व्यक्त होने वाला। स्वर की सहायता के बिना व्यञ्जन का उच्चारण भी नहीं हो सकता। ऋक्प्रातिशाख्य के भाष्यकार उव्वट के अनुसार अर्थों को प्रकट करने के कारण ही (ककरादि वर्ण) व्यञ्जन कहलाते हैं। आधुनिक भाषावैज्ञानिकों का मत है कि व्यञ्जनों का उच्चारण स्वर की सहायता के बिना हो सकता है। पाणिनीय व्याकरण में 'हल्' प्रत्याहार से समस्त व्यञ्जनों का बोध होता है, अर्थात् पाणिनीय व्याकरण में 'हल्' पद व्यञ्जनमात्र का वाचक है। इसीलिये 'व्यञ्जनादि' एवं 'व्यञ्जनान्त' के लिये क्रमशः 'हलादि' और हलन्त' शब्दों का

प्रयोग होता है। व्यञ्जनों के वास्तविक स्वरूप को बतलाने के लिये उनके नीचे (्) चिह्न का प्रयोग किया जाता है। जैसे क् ख् आदि। क् (क+अ), ख् (ख+अ) आदि व्यञ्जनों में 'अ' वर्ण का संयोग उनके उच्चारण की सुविधा के लिये किया जाता है। व्यञ्जन में आधी मात्रा होती है।

व्यञ्जन-भेद–व्यञ्जनों को सामान्यतः निम्नाङ्कित तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—(1) स्पर्श (2) अन्तःस्थ (3) ऊष्म

स्पर्श–'क' से लेकर 'म' पर्यन्त 25 वर्णों को स्पर्श कहा जाता है। 'कादयोमावसानाः स्पर्शाः'। इन्हें स्पर्श इसलिये कहा जाता है क्योंकि इन वर्णों के उच्चारण में जिह्वा के अग्र, मध्य अथवा मूल भाग द्वारा कण्ठ, तालु आदि उच्चारण-स्थानों का स्पर्श होता है। इन पचीस व्यञ्जनों को पाँच वर्गों में विभक्त किया गया है। प्रत्येक वर्ग पाँच व्यञ्जनों को रखकर उसका (वर्ग का) नामकरण उसके (वर्ग के) प्रथम व्यञ्जन के आधार पर किया गया है। उक्त पाँच वर्ग है—कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग तथा पवर्ग। इनको क्रमशः 'कु', 'चु', 'टु', 'तु' तथा 'पु' नाम से भी अभिहित किया जाता है। व्याकरण में इन पाँचों वर्गों (कु, चु आदि) के लिये 'उदित्' इस पद का प्रोग होता है। 'कु चु टु तु पु एते उदितः'। उक्त स्पर्श वर्णों का विवरण निम्नाङ्कित है—

1. **कवर्ग** (कु)—क्, ख्, ग्, घ्, ङ्। 2. **चवर्ग** (चु)—च्, छ्, ज्, झ्, ञ्,। 3. **टवर्ग** (टु)—ट्, ठ, ड्, ढ्, ण्,। 4. **तवर्ग** (तु)—त्, थ्, द्, घ्, न्। 5. **पवर्ग** (पु)—प्, फ् ब्, भ्, म्,।

अन्तःस्थ–'यण्' (य्, व्, र्, ल्) को अन्तःस्थ कहते हैं। 'यणोऽन्तस्थाः'। अन्तःपूर्वक 'स्था' धातु से क्विप् प्रत्यय लगाकर अन्तःस्थ शब्द निष्पन्न होता है जिसका शाब्दिक अर्थ है बीच में स्थित। वर्णमाला में स्पर्श कवर्गादि और ऊष्म (श्, ष्, स्, ह्) वर्णों के मध्य (अन्तः) स्थित होने के कारण इन्हें अन्तस्थ कहा जाता है। एक अन्य व्याख्या के अनुसार आभ्यन्तर प्रयत्न की दृष्टि से ये 'स्वर' और व्यञ्जन के मध्यवर्ती हैं क्योंकि इनका-उच्चारण न तो स्वरों की भाँति होता है और न ही स्पर्श व्यञ्जनों की भाँति। ये वस्तुतः आधे स्वर और आधे व्यञ्जन हैं। इ, उ, ऋ तथा ऌ के स्थान में क्रमशः य्, व्,र्, तथा ल् का आदेश होना भी इस बात का प्रमाण है। इसीलिये इन्हें अर्ध-स्वर () कहते हैं। माहेश्वर सूत्रों में इनकी स्थिति स्वरों और व्यञ्जनों के बीच में है। अन्तः स्थ—य, व, र् ल।

ऊष्म–ऊष्म का शाब्दिक अर्थ है गर्म वायु या वाष्प। ऊष्म वर्णी का उच्चारण करते समय मुख से निकलने वाली गर्म वायु की प्रधानता रहती है, इसलिये इन्हें ऊष्मन् कहते। अन्य आचार्यों ने भी ऊष्म की परिभाषा की है। इन वर्णों के उच्चारण करते समय वायु घर्षण करती हुई बाहर निकलती है इसलिये इन्हें संघर्षी वर्ण भी कहते हैं। 'शल्'

प्रत्याहार के अन्तर्गत आने वाले श् ष् स् ह् ये चार वर्ण ऊष्म कहलाते हैं। 'शल ऊष्माणः'। ऊष्म वर्ण—श, ष् स् तथा ह्।

उक्त व्यञ्जनों के अतिरिक्त निम्नाङ्कित वर्णों का भी भाषा में प्रयोग होता है—

1. अनुस्वार–अनुपूर्वक 'सृ' धातु से घञ् प्रत्यय लगाने पर अनुस्वार शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है 'वह वर्ण जिसका उच्चारण किसी अन्य वर्ण के पश्चात् किया जाता है। पाणिनीय शिक्षा पर पंजिका नामक भाष्य के अनुसार 'अनुस्वार' वह ध्वनि है जो किसी स्वर के पश्चात् आती है। इसका चिह्न (ं) है 'अं अः इत्यचः परावनुस्वारविसर्गौ'। ह्रस्व और दीर्घ के भेद से अनुस्वार दो प्रकार का माना जाता है।

2. विसर्ग–'वि' पूर्वक 'सृ' धातु से विसर्ग शब्द निष्पन्न होता है, इसके उच्चारण के समय फेफड़े से वायु शीघ्रतापूर्वक फेंक दी जाती है अतः इसे विसर्ग कहते हैं। विसर्ग वस्तुतः स् अथवा र् का रूपान्तर है। यह भी स्वर के पश्चात् ही प्रयुक्त होता है। वहीं–'अं-विसर्गे'। विसर्ग को विसर्जनीय भी कहते हैं। इसका चिह्न (:) है।

3. जिह्वामूलीय– ≍क ≍ख यहाँ क और ख के पूर्व आधे विसर्ग के समान जो चिह्न है उसे जिह्वामूलीय कहते हैं।

4. उपध्मानीय– ≍प ≍ क ≍ ख इति करवाभ्यां प्रागर्धविसर्गसदृशो जिह्वामूलीयः फ यहाँ 'प' एवं 'फ' के पहले प्रयुक्त चिह्न को उपध्मानीय कहते हैं।

विशेष (1)–अनुस्वार, विसर्ग, उपध्मानीय तथा यम इन सभी को अयोगवाह भी कहा जाता है। 14 माहेश्वर सूत्रों में इनका उल्लेख नहीं हुआ है परन्तु भाषा में इनका प्रयोग होने के कारण इन्हें वर्णों के अन्तर्गत माना गया है। आजकल जिह्वामूलीय, उपध्मानीय आदि का प्रयोग प्रायः नहीं होता। केवल अनुस्वार और विसर्ग का ही प्रयोग प्रचलित है। '≍प ≍फ इत्यचः पराम्भां प्रागर्धविसर्गसदृश उपध्यानीयः'।

विशेष (2)–हिन्दी-वर्णमाला में क्ष, त्र, ज्ञ, इन तीन वर्णों का भी उल्लेख किया जाता है। पर संस्कृत-वर्णमाला में इन्हें पृथक् से परिगणित नहीं किया जाता, क्योंकि ये सभी संयुक्त व्यञ्जन हैं—

क् + ष् = क्ष्। त् + र् = त्र्। ज् + ञ् = ज्ञ।

इस प्रकार अत्यधिक प्रचलित व्यञ्जन निम्नांकित हैं—स्पर्श—कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग तथा पवर्ग। **अन्तःस्थ**–य्, व्, र्, ल्। **ऊष्म**–श्, ष्, स्, ह्।

वर्णों की संख्या–वर्णों की संख्या के विषय में मतभेद हैं। विभिन्न मतों के अनुसार वर्णों की संख्या 52, 57, 60, 63, 65 तथा 65 आदि मानी जाती है। पाणिनीय शिक्षा के अनुसार संस्कृत तथा प्राकृत आदि भाषाओं में वर्ण-संख्या 63 अथवा 64 मानी जाती है।

भाषा में स्वरों के 13 और व्यञ्जनों के निम्नाङ्कित 33 भेदों का ही अधिक प्रयोग होता है—

स्वर–1. ह्रस्व स्वर–अ, इ, उ, ऋ, ऌ, = 5 **2. दीर्घ स्वर–**आ, ई, ऊ, ॠ तथा ए, ऐ, ओ, औ, = 8 कुल योग = 13

विशेष—'ऌ' का प्रयोग बहुत कम होता है।

व्यञ्जन–1. स्पर्श = 25, **2. अन्तःस्थ** = 4, **3. ऊष्म** = 4, कुल योग = 33

विशेष–अनुस्वार का अधिक प्रयोग होता है पर वे पराश्रित वर्ण है।

ध्वनि-परिवर्तन

ध्वनि-परिवर्तन–विधाता की सृष्टि में परिवर्तन भी एक शाश्वत नियम है। संसार में परिवर्तन का चक्र जीवन के हर क्षेत्र में चलता रहता है। संसार की सभी वस्तुयें परिवर्तित होती रहती है। सांसारिक परिवर्तन गति भाषाओं को भी प्रभावित करती है। भाषाओं का जो रूप आज के वर्षों पूर्व था वह आज नहीं है। संसार की ग्रीक, फ्रेंच, लैटिन, प्रभृति प्राचीन भाषायें परिवर्तन के प्रवाह से अप्रभावित न रह सकीं। फलस्वरूप उनसे अनेक भाषाओं ने जन्म-ग्रहण किया, जो आज विभिन्न क्षेत्रों में बोली जाती है।

ध्वनि-परिवर्तन की यह प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। उसी प्रक्रिया के अन्तर्गत एक-एक शब्द के अनेक अपभ्रंश हो जाते है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने महाभाष्य के पस्पशाह्निक में—"एकैकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः। तद्यथा—गौरित्यस्य शब्दस्य 'गावी' 'गोती' 'गोता' गोपोतलिका इत्येवमादयोऽपभ्रंशाः।।" कहा है। जिसमें उन्होंने 'गौ' इस शब्द के 'गावी', 'गोती', 'गोता', 'गोपोतलिका" इन अपभ्रंशों को गिनाया है।

भाषा में इस प्रकार होने वाले परिवर्तन को भाषा वैज्ञानिक 'विकार' अथवा 'विकास' इन अभिधानों से भी अभिहित करते हैं। भाषा में यह परिवर्तन कई प्रकार से होता है—ध्वनि में, रूप में, अर्थ में। भाषा के विभिन्न अङ्गों—ध्वनि, रूप, वाक्य तथा अर्थ में भाषा का मुख्य तत्त्व ध्वनि है। वस्तुतः भाषा में ध्वनि का महनीय स्थान है। कभी-कभी सीखने सिखाने की प्रक्रिया में कुछ ध्वनियों का प्रयोग कम हो जाता है और वे धीरे-धीरे गुप्त हो जाती हैं। कुछ नवीन ध्वनियों का समावेश हो जाता है। कभी ध्वनि-परिवर्तन का कारण उच्चारण सम्बन्धी अन्तर भी बन जाता हैं। कभी ऐसा भी होता है कि भिन्न ध्वनियाँ समान हो जाती है और वे ही समान ध्वनियाँ विभिन्न ध्वनियों में परिवर्तित हो जाती है। अनेकत्र ह्रस्व के स्थान पर दीर्घ एवं दीर्घ के स्थान पर ह्रस्व हो जाता है। इसी प्रकार घोष के स्थान पर अघोष, अघोष के स्थान पर घोष, अल्पप्राण के स्थान पर महाप्राण, महाप्राण के स्थान पर अल्पप्राण ध्वनियाँ हो जाती हैं। कभी-कभी सामाजिक, राजनीतिक धार्मिक तथा भौगोलिक कारणों से भी भाषा में ध्वनियों में परिवर्तन हो जाता है।

ध्वनि-परिवर्तन के कारण

भाषाविदों ने भाषागत ध्वनिपरिवर्तनों के कारणों पर भी विचार किया है। तदनुसार साधारणतः ध्वनि-परिवर्तन के दो कारण माने जाते हैं—1. आभ्यन्तर-कारण, 2. बाह्यकारण। जब ध्वनि-उच्चारण करने वालों (तथा सुनने वालों) के व्यक्तिगत प्रभाव से ध्वनियों में अन्तर होता है तो उन्हें 'आभ्यन्तर कारण' कहते हैं। जब भौगोलिक, राजनैतिक, धार्मिक आदि कारणों से जो ध्वनि-परिवर्तन होता है उसे 'बाह्य-कारण' कहते हैं। सम्प्रति इन दोनों कारणों पर विचार प्रसङ्गोयेत है।

आभ्यन्तर कारण

1. प्रयन्तलाघव या मुख-सुख–ध्वनि-परिवर्तन के कारणों में यह कारण मुख्य है। प्रयत्न-लाघव से तात्पर्य है—अधिक श्रम की अपेक्षा कम श्रम से काम चलाना। यह मानव-सुलभ प्रवृत्ति है, जो भाषा के क्षेत्र में भी अपना कार्य करती है। मनुष्य कम से कम ध्वनियों के उच्चारण से अधिक से अधिक भावों को व्यक्त करने का प्रयत्न करता है। बोलते समय उसकी यह इच्छा रहती है कि कम अथवा शीघ्र उच्चारण करके अपना अभिप्राय श्रोता पर प्रकट कर दे। इस प्रकार उसका अधिक श्रम से बचने का प्रयास रहता है। यही प्रयत्न-लाघव है। जब किसी उच्चारण में कठिनाई होती है तो वक्ता अपनी सुविधा के लिये उस उच्चारण को छोड़कर अपने ढंग से उच्चारण करने लगता है। इसीलिये इसे मुख-सुख भी कहा जाता है। पाणिनि-व्याकरण के 'अच्', 'हल्' आदि प्रत्याहार प्रयत्न-लाघव के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण कहे जा सकते हैं। 'अन्धकार को अँधेरा', 'स्कूल को स्कुल', 'स्टेशन को इस्टेशन (सटेशनं)', 'ब्राह्मण को ब्राम्हण' (बाभन) आदि कहा जाना प्रयत्न-लाघव का ही परिणाम है।

वस्तुतः प्रयत्न-लाघव के कारण ध्वनि-परिवर्तन अनेकविध होता है—कभी-कभी किसी ध्वनि का लोप हो जाता है जैसे स्थल से थल। कभी-कभी किसी नयी ध्वनि का आगम हो जाता है जैसे—'वधू से वधूटी'।

अंग्रेजी के कुछ शब्दों की ध्वनियों का उच्चारण नहीं किया जा सकता क्योंकि उनके उच्चारण में कठिनाई होती है : जैसे—Half (हॉफ), Calm (कॉम), Walk (वॉक), Knife (नाइफ) प्रभृति अंग्रेजी के कुछ शब्द देखे जा सकते हैं। कभी-कभी दो भिन्न ध्वनियों को एक सा बना दिया जाता है जैसे 'धर्म का धम्म', कभी ध्वनि में पूर्ण परिवर्तन कर दिया जाता है जैसे 'काग से काक'।

ध्वनियों का विकास सरलता की ओर रहता है। अनेक प्राचीन ध्वनियों के उच्चारण में अब परिवतन हो गया है। वैदिक क्रिया, रूप, लिङ्ग, वचन, कारक-रूपों की भिन्नता

में सरलीकरण मुख्य कारण है। कभी दीर्घ स्वरों को ह्रस्व स्वरों में बदल दिया जाता है जैसे—'आकाश' से 'अकास', 'नारायण' से 'नरायन', 'वार्ता' से 'बात', 'दुर्वा' से 'दूब' आदि इसी प्रकार के शब्द हैं। इसी श्रेणी में 'वज्राङ्ग' से परिवर्तित होकर 'बजरंग' आदि शब्द भी परिगणित किये जा सकते हैं।

आधुनिक काल में भी मनुष्य प्रयत्न-लाघव के कारण शब्दों के परिवर्तित (संक्षिप्त) रूप का प्रयोग करता है। जैसे-'माइक्रोफोन' को 'माइक', 'टेलीविजन' को 'टी0वी0', 'एरोप्लेन' को 'प्लेन', 'पाकिस्तान' को 'पाक'। आदि। ऐसे संक्षेपीकरण में प्रयत्न-लाघव ही कारण है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि भाषा के संक्षिप्तीकरण में, जितनी भी प्रवृत्तियाँ (प्रयास) दिखायी देती हैं वे सब प्रयत्न-लाघव अथवा मुख-सुख की ही देन है। वस्तुतः ऐसे परिवर्तनों की कोई सीमा नहीं है।

2. बोलने में शीघ्रता (क्षिप्र-भाषण)–शीघ्रता से बोलने के कारण भी ध्वनियों में परिवर्तन हो जाता है। प्रायः बातचीत में देखा जाता है कि शब्दों का उच्चारण शीघ्रता से होने के कारण ध्वनियों का रूप ठीक नहीं रहता है जैसे—'पंडित जी' को पंडी जी, 'मास्टर साहब' को 'मास्साब', 'मार डाला' को 'माड्डाला' आदि रूपों में उच्चारण किया जाता है। क्षिप्र-भाषण में वक्ता ठीक से ध्वनियों का उच्चारण नहीं कर पाता, फलस्वरूप कुछ ध्वनियाँ लुप्त हो जाती है, कुछ आधे रूप में उच्चारित होती हैं और अनेक परिवर्तित हो जाती हैं। 'भ्रातृजाया' से 'भौजाई', 'बाबू जी' से 'बाऊ जी' मास्टर साहब' से 'मास्साहब' आदि क्षिप्र-भाषण अथवा बोलने में शीघ्रता के उदाहरण है। अंग्रेजी में इसी प्रकार के शब्द-रूप पाये जाते हैं जो बोलने के कारण संक्षिप्त हो जाते हैं जैसे— Would not 'वुड-नॉट' को 'वो न्ट' (Won't) तथा डू नॉट (Do not) को डोन्ट (Don't) आदि। 'जब ही', को 'जभी', 'तब ही' को 'तभी' आदि रूपों में उच्चारित करते हैं।

3. अशिक्षा तथा अज्ञान–अशिक्षा एवं अज्ञान के कारण भी ध्वनियों में परिवर्तन होता रहता है। अज्ञानी व्यक्ति तथाकथित रूप को सुनकर उसी का अपने अनुसार प्रयोग करने लगता है। इस प्रकार ध्वनियों के अनुचित प्रयोग से ध्वनियों में परिवर्तन आने लगता है। अज्ञान के कारण, अनेक अपरिचित विदेशी शब्दों का उच्चारण ठीक से न समझने के कारण ध्वनि-परिवर्तन हो जाता है। जैसे—'रिपोर्ट का 'रपट', 'कम्पाउन्डर' का काम्पोडर', 'ओवरसियर' का 'ओसियर', 'स्टेशन' का 'टेशन' आदि रूप हो जाते हैं। अज्ञान तथा अशिक्षा के कारण ध्वनियों में ध्वनि-विपर्यय, मात्रा-भेद, घोषीकरण तथा अघोषीकरण, महाप्रणाकरण, अल्पप्राणीकरण जैसे परिवर्तन होते रहते हैं। अज्ञान के कारण जिन व्यक्तियों को ध्वनियों के उचित रूप का पता नहीं रहता है वे त्रुटिपूर्ण ध्वनि-उच्चारण करते रहते हैं। प्राचीन भारत में शिक्षा के उद्देश्यों में 'शुद्ध' उच्चारण भी परिगणित था। यही कारण है कि शिक्षितों की भाषा में ध्वनि-परिवर्तन कम हुआ है जब

कि 'पालि', 'प्राकृत', अपभ्रंश में बहुत परिवर्तन हुये। अशिक्षितो की बोल-चाल में प्रायः ध्वनियों का उच्चारण दोषपूर्ण रहता है।

4. अनुकरण की अपूर्णता–भाषा अनुकरण के द्वारा सीखी जाती है। जब कोई व्यक्ति किसी ध्वनि का उच्चारण करता है तो दूसरा व्यक्ति उसका अनुकरण कर उसे सीख लेता है। परन्तु अनुकरण में त्रुटियाँ हो जाती हैं। कहीं अनुकरण नहीं हो पाता या उच्चारण में कुछ न कुछ कमी रह जाती है। इस प्रकार अनुकरण अपूर्ण रह जाता है। अतः ध्वनियों में परिवर्तन आ जाता है जिनका शनैः शनैः समाज में प्रचलन हो जाता है। 'बन्द्योपाध्याय से बनर्जी, उपाध्याय से 'झा' आदि बनना। बच्चों की बोली में अनुकरण की अपूर्णता स्पष्ट दिखायी पड़ती है जैसे रोटी को 'लोटी', रुपया को 'लुपया' सुना जा सकता है। अशिक्षित व्यक्तियों में अपूर्ण अनुकरण की प्रवृत्ति विशेष रूप से पायी जाती है। 'कोर्ट' को 'कोट' 'लार्ड' को 'लाट' कहना इसी का परिणाम है।

5. भ्रामक व्युत्पत्ति–जब व्यक्ति किसी अपरिचित शब्द के संसर्ग में आता हैं तथा उस शब्द से साम्य रखता हुआ कोई शब्द भाषा में पहले से ही होता है, तो अपरिचित शब्द के स्थान पर अपनी भाषा के पूर्व परिचित शब्द का प्रयोग करने लगता हैं। इस प्रकार ध्वनि-परिवर्तन की क्रिया चलने लगती है। जैसे अंग्रेजी शब्द 'लाइब्रेरी' को अशिक्षित व्यक्ति द्वारा भ्रमवश 'रायबरेली' तथा अरबी शब्द 'इंतकाल' को 'अन्तकाल' कह दिया जाता है। इसी प्रकार 'चार्ज शीट' को 'चारसीट', 'क्वार्टर' को 'क्वाटर', 'कार्ड' का 'कारड', 'गोडाउन' को 'गोदाम' आदि (कह दिया जाता है)। कभी-कभी लोग अपने ढंग से भ्रामक व्युत्पत्ति बना लेते हैं जैसे—'मैक्समूलर' से 'मोक्षमूलर' आदि।

6. भावुकता–प्रायः भावुकतावश या प्रेमवश मनुष्य शब्दों का शुद्ध उच्चारण नहीं करता है अतः ध्वनि-परिवर्तन होता रहता है। व्यक्तियों के नामों के सम्बन्ध में देखा जाता हैं कि प्रेम के कारण व्यक्तियों के नाम बिगाड़ कर पुकारा जाता है जैसे—'धनीराम' का 'धनुआ' 'सुखराम' का 'सुक्खा', 'राजेन्द्र' का 'रज्जो', 'दुलारी' का 'दुल्लो', 'बच्चा' का 'बचऊ', 'बेटी' का 'बिट्टी', 'बहू' का 'बहूरिया' 'राम' का 'रमुआ' 'बच्चा' का 'बचवा' आदि कहा इसी प्रकार के शब्द हैं।

7. वाग्यन्त्र की विभिन्नता–वाग्यन्त्र की भिन्नता के कारण ध्वनि-उच्चारण में भिन्नता आ जाती है। जैसे हर व्यक्ति श, ष, स इन तीनों ध्वनियों का सही उच्चारण नहीं कर सकता है। संस्कृत की 'स' ध्वनि 'फारसी' में 'ह' बन जाती है जैसे 'सिन्धु' का 'हिन्दु', 'सप्त' का 'हफ्त' आदि।

8. मात्रा, सुर तथा बलाघात–इन तीनों के कारण भी ध्वनि में परिवर्तन होता है। इन तीनों में बलाघात' का महत्त्व सर्वाधिक है। प्रायः देखने में आता है कि बलाघात

के कारण जिस ध्वनि के उच्चारण पर अधिक बल दिया जाता है, उसके समीप की ध्वनि, दुर्बल पड़ जाने से, बाद में लुप्त हो जाती है; उदाहरणार्थ, अभ्यन्तर से भीतर। यहाँ 'म्य' पर बलाघात के कारण 'अ' ध्वनि लुप्त हो गयी है।

9. यदृच्छा-शब्द–बोलते समय व्यक्ति जब अपने आप शब्द बनाकर बोलता हैं, उसे यदृच्छा-शब्द कहते हैं। कभी-कभी एक शब्द की समानता पर जोड़ा शब्दों का निर्माण कर लिया जाता है। खाना-बाना, रोटी-ओटी, पानी-बानी आदि इसी प्रकार के शब्द हैं। युग्मक रूप बनाते समय ध्वनिपरिवर्तन कर लिया जाता है।

10. आत्मप्रदर्शन–आत्मप्रदर्शन (अपनी विशेज्ञता के प्रदर्शन) के कारण भी व्यक्ति बोलते समय ध्वनि-परिवर्तन कर लेता हैं। जैसे—'खालिस' (शुद्ध) को निखालिस (अशुद्ध), इच्छा को इक्षा, 'छात्र' को 'क्षात्र', क्षत्रिय को छत्रिय, 'सेवक' को 'शेवक' आदि प्रकार से परिवर्तित कर लिया जाता है। इसी प्रकार 'उपर्युक्त' को 'उपरोक्त' तथा 'अन्ताराष्ट्रिय' को 'अन्तर्राष्ट्रीय' बनाकर प्रयोग किया जाता है। इन शब्दों का प्रचलन अत्यधिक हो चुका है तथा भाषा में ये स्वीकृत हो चुके हैं। उर्दू के प्रभाव से 'राजेन्द्र' का 'राजेन्दर', 'प्रधान' का 'परधान', 'स्कूल' का 'सकूल' उच्चारण किया जाता है।

11. लघु बनाने की प्रवृत्ति–अधिक लम्बे शब्दों का उच्चारण व्यक्ति को भार स्वरूप लगता है अतः बोलचाल में संक्षिप्त करने या लघु-रूप में प्रयोग करने की प्रवृत्ति काम करती है। व्यक्ति का अभिप्राय श्रोता द्वारा समझ लिया जाता है। यूनियन ऑफ सोवियत सोशिलिष्ट रिपब्लिक को यू0एस0एस0आर0 या सोवियत रूस कहा जाता है। यूनाइटेड स्टेट आफ अमेरिका को यू0एस0ए0 कहा जाताहै। 'यू0पी0', 'एम0पी0', 'संविद' आदि शब्द भी इसी श्रेणी में आते हैं।

12. सादृश्य–मिथ्या-सादृश्य के कारण भी ध्वनि-परिवर्तन होते हैं। किसी एक ध्वनि के सादृश्य पर दूसरी ध्वनि का प्रयोग किया जाने लगता है। 'द्वादश' के सादृश्य पर 'एकदश' भी 'एकादश' बन गया है। 'स्वर्ग' की समानता पर नरक का 'नर्क' प्रयोग किया जाने लगा है। इसी प्रकार 'देहाती' की समानता पर 'शहराती' शब्द बना लिया गया है। कुछ लोग 'सृष्टि' के सादृश्य पर 'स्त्रष्टा' के स्थान पर 'सृष्टा' का तथा 'द्रष्टा' के स्थान पर 'दृष्टा' का प्रयोग करते हैं।

इसी प्रकार फोनोलाजी (Phonology) शब्द के आधार पर 'मार्फोलाजी' (Morphology) आदि शब्द का प्रयोग होता है, जो गलत है।

13. कविकृत स्वच्छन्दता–कवियों द्वारा मात्रा अथवा तुक मिलाने के लिये या श्रुति-माधुर्य के लिये ध्वनियों में परिवर्तन कर दिया जाता है। फारसी के 'जहान्' (संसार) के स्थान पर 'जहाना' (जैसे–जे जड़ चेतन जीव जहाना), 'बैठाया' के स्थान 'बैठाई'

(जैसे–आसिष देइ निकट बैठाई),'लोग' के स्थान पर 'लोगा' (जैसे–जेहि विधि सुखी होहिं पुर लोगा)। मानस के 'रघुराई', 'बिचारा', 'नाई', 'जो साई' आदि शब्द इसी कोटि के हैं। पन्त जी ने 'बादल' नामक कविता के निम्नाङ्कित पंक्तियों में 'ल्' के स्थान पर 'र्' का प्रयोग किया है—'धूम धुआरे काजर कारे। हम ही विकरारे बादर।'

आधुनिक हिन्दी कवियों में 'ण्' के स्थान पर 'न्' के प्रयोग करने की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। 'किरण' के स्थान पर 'किरन', 'कण' के स्थान पर 'कन' आदि शब्द इसी प्रवृत्ति के द्योतक हैं।

बलाघात सुर या मात्रा–बलाघात से ध्वनि-परिवर्तन हो जाते हैं। बलाघातयुक्त ध्वनि सबल होकर समीपवर्ती ध्वनियों को निर्बल कर देती है, बाद में निर्बल ध्वनियाँ लुप्त हो जाती हैं, जैसे–'अभ्यन्तर' से 'भीतर', 'उपाध्याय' से 'ओझा' हो गया। सुर के प्रभाव से ध्वनि-परिवर्तन हो जाता है, जैसे–'कुष्ठ' का 'कोढ़', 'बिल्ब' का 'बेल'। दो दीर्घ स्वर आने पर एक स्वर ह्रस्व हो जात है, जैसे–'नारायण' का 'नरायण', 'आकाश' का 'अकास' आदि। इस प्रकार बलाघात, सुर आदि के कारण ध्वनि-परिवर्तन हो जाते हैं।

बाह्य कारण–ध्वनि-परिवर्तन के कतिपय बाह्य कारण भी होते हैं। भाषाविदों ने इन बाह्य कारणों पर प्रकाश डाला है। यहाँ ध्वनि-परिवर्तन सम्बन्धी कुछ बाह्य कारणों को प्रस्तुत किया जा रहा है—

1. भौगोलिक, सामाजिक तथा राजनैतिक प्रभाव–भौगोलिक स्थितियाँ मनुष्य के वाग्यन्त्र को प्रभावित करती हैं। फलस्वरूप ध्वनियों में परिवर्तन हो जाता है। अधिक ठण्डे स्थानों पर रहने वाला व्यक्ति मुख को अधिक नहीं खोल सकता। अतः विवृत ध्वनियों का विकास नहीं हो पाता। इसके विपरीत गर्म देशों (स्थानों) में विवृत ध्वनियों का अधिक विकास होता है।

जब समाज में शान्ति और स्थिरता रहती है तो शिक्षा (विद्या) का प्रचार अधिक होने से ध्वनि-परिवर्तन की गति मन्द रहती है। समाज की समुन्वति की दशा में भाषा के शुद्ध रूप का प्रयोग अधिक होता है। परन्तु जब राजनैतिक स्थितियाँ स्थिर नहीं होतीं, तब भाषा में ध्वनि-परिवर्तन के अवसर अधिक रहते हैं। भारत में गुप्तकाल में संस्कृत को प्रोत्साहन मिला और अवनति काल में, विशेषतः राजपूत काल में प्राकृत तथा अपभ्रंश को प्रोत्साहन मिला। युद्ध के वातावरण में भाषा में ध्वनि-परिवर्तन तीव्र गति से होता है।

2. लिपि की अपूर्णता–यह भी ध्वनि-परिवर्तन का एक मुख्य कारण है। किसी भी लिपि द्वारा विश्व की भाषाओं की ध्वनियों को सूचित (प्रकट) नहीं किया जा सकता है, क्योंकि देखा जाता है कि 'विश्व में कोई भी दो भाषायें पूर्ण रूप से एक ही प्रकार की ध्वनियों का प्रयोग नहीं करती हैं। अतः किसी एक भाषा के लिये पर्याप्त सिद्ध होने

वाली लिपि किसी अन्य भाषा के लिये अपर्याप्त सिद्ध होती है। तमिल-भाषा में देवनागरी के वर्गों के पहले तथा पाँचवें वर्ण-सूचक चिह्न मिलते हैं। प्रथम वर्ण शेष तीन वर्णों का भी बोध कराता है। अंग्रेजी के शब्दों में रोमन लिपि की कमी (अपूर्णता) स्पष्ट प्रतीत होती है। 'O' (ओ) ध्वनि कहीं 'अ', कहीं 'आ' तो कहीं 'ओ' बताती है, जैसे–मदर (Mother) में 'अ', ऑवर (Our) में 'आ', मोर (More) में 'ओ' की तरह आयी है। इसी प्रकार (a) ए ध्वनि भी बदलती रहती है। e (ई) ध्वनि भी कहीं 'इ', कहीं 'ए' तो कहीं 'अ' की तरह आती है, जैसे–Mere (मियर) में 'इ', Hen (हेन) में 'ऐ', Mother (मदर), Father, More में 'अ' की भाँति आयी है। इसी प्रकार अन्य उदाहरण देखे जा सकते हैं। देवनागरी की अनेक ध्वनियाँ, जैसे–ण, ड़, श, ष रामन में नहीं हैं। हिन्दी में भी टंकण में चन्द्र बिन्दु (ँ) के स्थान पर अनुस्वार (ं) का प्रचलन हो गया है। उर्दू-लिपि तथा गुरुमुखी में 'स्कूल' को 'सकूल', 'प्रधान' को 'परधान', 'प्रेम' को 'परेम', 'राजेन्द्र' को 'राजेन्दर' जैसे रूपों में लिखा तथा पढ़ा जाता है। इस प्रकार लिपि की अपूर्णता का ध्वनि-परिवर्तन में प्रभाव पड़ता है।

3. अन्य भाषाओं की ध्वनियों का प्रभाव–अन्य भाषाओं की ध्वनियों के प्रभाव से भी ध्वनियों में परिवर्तन हो जाता है। भारतीय भाषाओं में अरबी, फारसी आदि भाषाओं की ध्वनियों–फ़ ज़ क़ ख़ ग़ आदि के नीचे नुखते (.) का प्रयोग होता है, जबकि हिन्दी में ऐसा नहीं होता। परन्तु उन भाषाओं के प्रभाव से हिन्दी में भी 'क़' 'ख़' 'ग़' ध्वनियों का प्रयोग होने लगा। इन विद्वानों के मतानुसार द्रविड़ परिवार की भाषाओं के सम्पर्क से ही संस्कृत, हिन्दी आदि में टवर्गीय ध्वनियों का प्रचलन हुआ।

ध्वनि-परिवर्तन की दिशायें–ध्वनियों में परिवर्तन की प्रवृत्ति, प्राचीनकाल से ही, भारतीय भाषाविदों (वैयाकरणों) के विचार का विषय रही है। महाभाष्य, निरुक्त आदि ग्रन्थों में ध्वनि-परिवर्तन की दिशाओं का प्रायः उल्लेख मिलता है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने महाभाष्य में वर्णव्यत्यय (वर्ण में उलटफेर), वर्ण-अपाय (वर्णलोप), वर्ण-उपजन (वर्ण-आगम), वर्ण-विकार (आदेश) इन चार का उल्लेख किया है—

"वर्णव्यत्ययापायोपजनविकरेष्वर्थदर्शनात्।" महाभाष्य, अध्याय-1, पाद-9, अह्निक-2, वार्तिक।

कोशकार यास्क ने निरुक्त में ध्वनिपरिवर्तन की दिशाओं का सोदाहरण उल्लेख किया है—"अथाप्यस्तेर्निवृति-स्थानेष्वादिलोपो भवति..........अथापि वर्णोपजनः। आस्थद्, द्वारौ भरूजेति।—द्रष्टव्य निरुक्त अध्याय-2 पाद-1।

सम्प्रति ध्वनि-परिवर्तन की दिशा के सन्दर्भ में प्रायः निम्नाङ्कित बातों का विचार होता है—

1. आगम, 2. लोप, 3. विपर्यय, 4. समीकरण, 5. विषमीकरण, 6. मात्राभेद,

7. घोषीकरण (सघोषीकरण), 8. अघोषीकरण, 9. महाप्राणीकरण, 10. अल्पप्राणीकरण, 11. उष्मीकरण, 12. अनुनासिकीकरण, 13. सन्धि, 14. भ्रामक व्युत्पत्ति।

1. आगम–किसी शब्द में, पहले से अविद्यमान किसी नयी ध्वनि (स्वर, व्यञ्जन या अक्षर) का, उसके (शब्द के) आदि मध्य या अन्त में आना (जुड़ जाना) 'आगम' कहलाता है। आगम तीन वर्णों का होता है—स्वर, व्यञ्जन तथा अक्षर। इस दृष्टि से इसके तीन भेद होते हैं—1. स्वरागम, 2. व्यञ्जनागम, 3. अक्षरागम।

स्वरागम–स्वर के आगम को ध्यान में रखकर इसके तीन भेद होते हैं—1. आदि-स्वरागम, 2. मध्य-स्वरागम, 3. अन्त्य-स्वरागम।

(क) आदि-स्वरागम–प्रारम्भ में आने वाले स्वर को 'प्रागुप्जन' कहते हैं। आदिस्वरागम में प्रायः संयुक्त व्यञ्जनों से प्रारम्भ होने वाले शब्दों के पहले (आदि में) किसी स्वर का आगम हो जाता है—उदाहरण—स्तुति > इस्तुति—यहाँ स्तुति के आदि में 'इ' स्वर का आगम हुआ है। इसी प्रकार गोस्वामी तुलसीदास ने स्तुति शब्द के पहले 'अ' स्वर को जोड़ा है—स्तुति > अस्तुति। **(ख) मध्य-स्वरागम**–अज्ञानतावश अथवा बोलने में सौविध्य के लिये कभी-कभी शब्द के मध्य में स्वर का आगम होता है अर्थात् स्वर का प्रयोग किया जाता है—उदाहरण—कर्म > करम, प्रकार > परकार, मर्म > मरम, प्रसाद > परसाद, भ्रम > भरम, भक्त > भगत आदि। **(ग) अन्त्य-स्वरागम**–कभी-कभी उच्चारण-सुविधा के लिये जब शब्द के अन्त में स्वर का आगम हो जाता है अर्थात् स्वर को जोड़ दिया जाता है तो उसे अन्त्यस्वरागम कहते हैं—उदाहरण—गल > गला, दवा > दवाई, ज्वलत > ज्वलन्त, चतुरता > चतुराई, हनुमत् > हनुमन्त आदि। **2. व्यञ्जनागम**–जब स्वर की भाति व्यञ्जन का भी शब्द के आदि, मध्य अथवा अन्त में आगम होता है तो उसे व्यञ्जनागम कहते हैं। यह आगम भी आदि, मध्य और अन्त के भेद से तीन प्रकार का होता है—1. आदि-व्यञ्जनागम, 2. मध्य-व्यञ्जनागम, 3. अन्त्य-व्यञ्जनागम। (क) आदि-व्यञ्जनागम—उदाहरण—ओष्ठ > होंठ, अस्थि > हड्डी, उल्लास > हुलास। **विशेष**–इस भेद के उदाहरण कम मिलते हैं। (ख) मध्य-व्यञ्जनागम—उदाहरण—शाप > सराप, समुद्र > समुन्दर, वानर > बन्दर, सुख > सुक्ख। (ग) अन्त्य-व्यञ्जनागम—उदाहरण—परवा > परवाह, भौं > भौंह, अरबी— रंग > रंगत, उमरा > उमराव। **3. अक्षरागम**–स्वर और व्यञ्जन की भाँति जब किसी 'अक्षर' का आगम होता है उसे 'अक्षरागम' कहते हैं। यह भी तीन प्रकार का होता है—(क) आदि-अक्षरागम, (ख) मध्य-अक्षरागम, (ग) अन्त्य-अक्षरागम। (क) आदि-अक्षरागम—उदाहरण-गुञ्जा = घुँघची, (घु का आगम)। स्फोट = विस्फोट। (ख) मध्य-अक्षरागम—उदाहरण—आलस्य > आलकस (क का आगम) खर > खरल, गरीब > निाज = गरीबुलनिवाज। (ग) अन्त्य-अक्षरागम—उदाहरण—तावे > तावेदार, संस्कृत-वधू > बधूटी, हिन्दी-बहू > बहुरिया, हिन्दी-बाँहे > बँहिया आदि।

2. लोप–आगम के विपरीत किसी शब्द के आदि, मध्य अथवा अन्त में पहले से विद्यमान ध्वनि (स्वर, व्यञ्जन या अक्षर) का बाद में लुप्त हो जाना 'लोप' कहलाता है। कभी-कभी ध्वनियों का उच्चारण करते समय प्रयत्नलाघव आदि के कारण कुछ ध्वनियाँ लुप्त हो जाती हैं। यह लोप, स्वर व्यञ्जन तथा अक्षर से सम्बन्धित होता है अतः इसके तीन भेद होते हैं—(क) स्वर-लोप, (ख) व्यञ्जन-लोप, (ग) अक्षर-लोप।

(क) स्वरलोप–स्वरलोप, शब्द के आदि, मध्य अथवा अन्त में होता है। अतः इसके तीन भेद हो जाते हैं—आदिस्वरलोप, मध्यस्वरलोप, अन्त्यस्वरलोप। (अ) आदिस्वरलोप—यह शब्द के आदि में होता है। उदाहरण—आभ्यन्तर > भीतर, अगर > गर, अनाज > नाज आदि। (ब) मध्यस्वरलोप—इसमें शब्द के मध्य में स्वर का लोप होता है। उदाहरण—नरक > नर्क, बरतन > वर्तन, गलती > गल्ती, उलटा > उल्टा आदि। (स) अन्त्यस्वरलोप—इसमें शब्द के अन्त में स्वर का लोप होता है। उदाहरण—दूर्वा > दूब्, गर्भिणी > गाभिन्, भगिनी > बहन (बहन्), वार्ता > बात् आदि।

विशेष–अन्तिम स्वर-लोप के कारण शब्द प्रायः व्यञ्जनान्त हो गये हैं। उनका उच्चारण व्यञ्जनान्त ही होता है। परन्तु लिखने में अभी इनका प्रयोग नहीं हो रहा है। जैसे—राम, श्याम प्रकाश आदि।

(ख) व्यञ्जनलोप–व्यञ्जन का लोप शब्द के आदि, मध्य और अन्त में होता है। अतः इसके भी तीन भेद होते हैं—1. आदिव्यञ्जनलोप, 3. मध्यव्यञ्जनलोप, 3. अन्त्यव्यञ्जनलोप। 1. आदिव्यञ्जनलोप—उदाहरण—प्रिय > पिय, स्थान > थान, स्नेह > नेह, स्टेशन > टेशन, स्थाली > थाली, श्मशान > मसान आदि। 2. मध्यव्यञ्जनलोप—संस्कृत-शब्दों के मध्य में आने वाले कुछ व्यञ्जनों का हिनदी में लोप होता है। उदाहरण—शृगाल > सियार, दुग्ध > दूध, संस्कृत—सूची > सुई, हिन्दी—पिप्पल > पीपल, कोकिल > कोयल, लज्जा > लाज, फाल्गुन > फागुन, दुःख > दुख (विसर्ग लोप), शय्या > सेज, कार्तिक > कातिक, कायस्थ > कायथ आदि। अंग्रेजी भाषा में भी इसके उदाहरण मिलते हैं—Talk > टाक, Walk > वाक, Right > राइट, Daughter > डॉटर।

विशेष–उपर्युक्त चारों उदाहरणों में से उच्चारण में 1 तथा 2 में 'L' व्यञ्जन का तथा 3 एवं 4 में gh व्यञ्जन का लोप हो गया है, परन्तु लिखित रूप में वे (व्यञ्जन) वर्तमान हैं।

अन्त्यव्यञ्जनलोप—इसमें अन्तिम व्यञ्जन का लोप होता है। उदाहरण-सत्य > सच, चरित्र > चरित (चरित्) आम्र > आम, निम्ब > नीम, व्याघ्र > बाघ आदि।

(ग) अक्षरलोप–इसमें अक्षर का लोप होता है। इसके भी चार भेद होते हैं। 1. आदि-अक्षरलोप, 2. मध्य-अक्षरलोप, 3. अन्त्य-अक्षरलोप, 4. समाक्षर-लोप। (क) आदि-अक्षरलोप—उदाहरण-संस्कृत यष्टिक > अंग्रेजी स्टिक, व्याकुल > आकुल, त्रिशून्य

> शूल। (ख) मध्यअक्षरलोप—उदाहरण—उर्दू-दस्तखत > दस्खत, गोधूमचणा > गिहुँचना, गेहूँ जौ > गोजई, संस्कृत-भाण्डागार हिन्दी-भण्डार (ग का लोप) नासिका > नाक-(सि का लोप)। (ग) अन्त्य-अक्षरलोप—उदाहरण-मौक्तिक > मोती, माता > माँ, भातृजाया > भावज, जीव > जी, पार्श्व > पास। (घ) समाक्षरलोप—जब किसी एक ही शब्द में एक जैसी दो ध्वनियाँ आस-पास आ जाती हैं अर्थात् जब किसी एक ही शब्द में अक्षर या अक्षर-समूह साथ-साथ दो बार प्रयोग किये जाते हैं, तो उच्चारण की सुविधा के कारण उनमें से एक का लोप हो जाता है, तो उसे समाक्षर-लोप कहा जाता है। **उदाहरण**–नाक कटा > नकटा, खरीददार > खरीदार, पार्ट-टाइम (Part-time) > पार्टाइम (Partime)। बड़दादा > बड़दा (बड़ा भाई)।

3. **विपर्यय**–शीघ्रता से बोलने में, जब शब्द में स्थित दो ध्वनियाँ उलट-पुलट जाती हैं तो उसे विपर्यय कहते हैं। सक्षेपतः ध्वनियों के स्थान-परिवर्तन को विपर्यय कहते हैं। यह विपर्यय तीन प्रकार का होता है—1. स्वर-विपर्यय, 2. व्यञ्जन-विपर्यय, 3. अक्षर-विपर्यय। इन तीनों में से प्रत्येक के दो-दो भेद हो सकते हैं—(क) पार्श्ववर्ती-विपर्यय, (ख) दूरवर्ती-विपर्यय।

1. **स्वर-विपर्यय**–(क) पार्श्ववर्ती स्वर-विपर्यय—उदाहरण-फा० जानवर > (हिन्दी) जनावर ('दीर्घ 'आ' और हस्व 'अ' का विपर्यय) अंगुली > उंगली आदि। (ख) दूरवर्ती स्वर-विपर्यय—उदाहरण-पागल > पगला, खट्वा > खाट आदि। **2. दूरवर्ती व्यञ्जन-विपर्यय**–उदाहरण-तमगा > तगमा, अं0 सिगनल > सिंगल, सं0-नारिकेल नालिकेर आदि। **3. अक्षर-विपर्यय**–(क) पार्श्ववर्ती अक्षर-विपर्यय—अरबी-मतलब > मतबल, सं0-खन > नख आदि। (ख) दूरवर्ती अक्षर-विपर्यय—उदाहरण-लखनऊ नखलऊ आदि।

विशेष–भाषा-वैज्ञानिकों ने इसी सन्दर्भ में आद्य शब्दांश-विपर्यय पर भी विचार किया है। हिनदी के दाल-चावल > चाल-दावल, नून-तेल > नेन-तूल आदि उसके उदाहरण है।

4. **समीकरण (सावर्ण्य)**–शब्द में जब एक ध्वनि दूसरी ध्वनि को प्रभावित कर अपने समान बना लेती है तो उसे 'समीकरण' कहा जाता है। यह समीकरण दो प्रकार का होता है—(क) पुरोगमी तथा (ख) पश्चगामी। **(क) पुरोगामी समीकरण**–जब पहले वाली ध्वनि परवर्ती ध्वनि को प्रभावित कर, अपने समान बनाती है तब पुरोगामी समीकरण होता है। स्वर-व्यञ्जन की दृष्टि से दो प्रकार की होती है—**(अ) स्वर-पुरोगामी-समीकरण**–उदाहरण-अरबी जुल्म > जुलुम पूर्ववर्ती 'उ' के प्रभाव से परवर्ती ध्वनि में भी 'उ' आ गया है। यह स्वर-समीकरण का उदाहरण है। **(ब) व्यञ्जन-पुरोगामी-समीकरण**–सं0-अग्नि प्र0-अग्गि 'ग्' के प्रभाव से परवर्ती 'न' को 'ग' हो गया है। चक्र > चक्का आदि। **(ख) पश्चगामी-समीकरण**–जब परवर्ती ध्वनि अपने

पूर्ववर्ती ध्वनि को प्रभावित करती है तब उसे पश्चगामी-समीकरण कहते हैं। स्वर-व्यञ्जन की दृष्टि से इसके भी दो भेद हैं, जो निम्नाङ्कित हैं—(अ) पश्चगामी स्वर-समीकरण—उदाहरण-सं० इक्षु > प्रा० उरूखु। (ब) पश्चगामी व्यञ्जन-समीकरण—उदाहरण-सं०-भक्त > प्रा० भत्त (हि०-भात)

5. विषमीकरण–यह समीकरण का उलटा है। इसमें दो समान ध्वनियाँ असमान हो जाती है। इसके भी दो भेद हैं—(क) पुरोगामी (ख) पश्चगामी। इन दोनों के भी स्वर-व्यञ्जन भेद से दो-दो प्रकार हो जाते है—

(क) पुरोगामी-विषमीकरण–जब पहला वर्ण तो ज्यों का त्यों स्थित रहता है, परन्तु दूसरे में परिवर्तन हो जाता है तो उसे पुरोगामी विषमीकरण कहते है। (अ) स्वर-पुरोगामी विषमीकरण—उदाहरण-सं० पुरुष > प्राकृत-पुरिस (दो 'उ' ध्वनियों में से बादवाली ध्वनि बदलकर 'इ' हो गयी है।) (ब) व्यञ्जन-पुरोगामी विषमीकरण—उदाहरण-कंकण > कंगन, पिपासा > प्यास। **(ख) पश्चगामी विषमीकरण**–इसमें बादवाली ध्वनि (पश्चगामी ध्वनि) अक्षुण्ण रहती है और पहली वाली ध्वनि बदल जाती है। पश्चगामी ध्वनि से पुरोगामी ध्वनि की असदृशता के कारण पश्चगामी विषमीकरण होता है। इसके भी दो भेद हैं—(अ) स्वर-पश्चगामी विषमीकरण—उदाहरण-सं० नूपुर > प्राकृत-नेउर सं० मुकुल > प्रा० मउल दो पार्श्ववर्ती 'उ' ध्वनियों में से पहली बदल गयी है। (ब) व्यञ्जन-पश्चगामी विषमीकरण—सं० लांगल नांगल (दो दूरवर्ती 'ल्' ध्वनियों में से पहली ध्वनि बदली) **विशेष**–ऊपर पार्श्ववर्ती स्वर-विषमीकरण और दूरवर्ती व्यञ्जन-विषमीकरण के उदाहरण दिये गये हैं। इसी प्रकार दूरवर्ती स्वर-विषमीकरण और पार्श्ववर्ती व्यंजन-विषमीकरण के उदाहरण भी मिलते हैं।

6. मात्राभेद–ध्वनियों का ह्रस्व से दीर्घ और दीर्घ से ह्रस्व होना ही मात्राभेद कहलाता है। प्रायः ऐसा बलाघात के कारण भी होता है। ह्रस्व से दीर्घ—उदाहरण-सं० अक्षत > हिं० आखत, सं० सिंह > पालि-सीह, अं० टिन > हिं० टीन (tin), अं० मिल (mill) > हिं० मील, सं० पुत्र > हिं० पूत (दीर्घीकरण)। दीर्घ से ह्रस्व—आषाढ़ > असाढ़ (ह्रस्वीकरण), आभीर > अहीर।

7. घोषीकरण या सघोषीकरण–अघोष ध्वनि का सघोष हो जाना सघोषीकरण कहलाता है; जैसे, सं० शती फा० सदी (अघोष 'त्' सघोष 'द्' में परिवर्तित), शकुन > सगुन, भक्त > भगत, शाक > साग, (क् > ग) आदि।

8. अघोषीकरण–सघोष ध्वनियों का अघोष हो जाना अघोषीकरण कहलाता है। इसके उदाहरण अधिक नहीं मिलते क्योंकि भाषाओं से सघोष ध्वनियाँ बहुत अधिक और अघोष कम मिलती है। कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य है—फा० मदद > हिं० मदत, अ० तअदाद > हिं० तादात (द् > त्)।

9. **महाप्राणीकरण**–जब शब्द में विद्यमान कोई अल्पप्राण ध्वनि बाद में महाप्राण हो जाय तब महाप्राणीकरण होता है। उदाहरण-गृह > घर (ग् > घ्), शुष्क > सूख (क् > ख्), परशु > फरसा (प् > फ्)।

10. **अल्पप्राणीकरण**–उक्त के विपरीत जब शब्द में विद्यमान कोई महाप्राण ध्वनि बाद में अल्पप्राण हो जाय, जैसे—सिन्धु > हिन्दु (ध् > द्), भगिनी > बहिन (भ् > ब्)।

विशेष–यदि किसी एक ही शब्द में आई दो महाप्राण ध्वनियों में से एक अल्पप्राण हो जाय या दो अल्पप्राण ध्वनियों में से एक महाप्राण हो जाय तो ऐसे उदाहरण प्रयत्न-सम्बन्धी विषमीकरण' के अन्तर्गत परिगणित होगे।

11. **ऊष्मीकरण**–अनूष्म ध्वनियों का ऊष्म ध्वनियों में परिणत हो जाना ऊष्मीकरण कहलाता है। शतम् और केन्तुम् वर्गों का पृथक्त्व इसी बात पर निर्भर है कि केन्तुम् वर्ग की भाषाओं में उपलब्ध 'क्' (अनूष्म ध्वनि) शतम् वर्गीय भाषाओं में 'श्' या 'स्' (ऊष्म ध्वनि) में परिणत मिलती है।

12. **अनुनासिकीकरण**–अननुनासिक वर्णों का मुख-सुख की दृष्टि से कई बार अनुनासिकीकरण देखा जाता है; जैसे-सं0 सर्प > प्रा0 सप्प > हिं0 साँप, सत्य > साँच, श्वास > साँस, बाहु > बाँह, अश्रु > आँसू

13. **सन्धि**–जब सन्धिरहित ध्वनियों में सन्धि होती है तो वर्णों (स्वर तथा व्यञ्जन-वर्णों) में परिवर्तन हो जाता है—सन्धि के तीन भेद होते हैं—1. अच् (स्वरसन्धि), 2. हल् (व्यञ्जन-सन्धि), 3. विसर्ग-सन्धि।

14. **भ्रामक व्युत्पत्ति**–किसी दूसरी भाषा के शब्दों को सामान्य लोग अज्ञानता के कारण अपने ढंग से बोलने लगते है। इसके कारण शब्दों में विकार हो जाते हैं। इसी को भ्रामक व्युत्पत्ति कहते हैं। सामान्यतः इस प्रकार की व्युत्पत्ति में दूसरी भाषा के शब्दों को अपनी भाषा की प्रकृति के अनुकूल ढालने का प्रयास होता है; उदाहरण- अ0 इन्तकाल > अन्तकाल, अं0 लाइब्रेरी > रायबरेली, अं0 लार्ड > लाट, अ0 अमीर-उल्-बहर > अं0 ऐडमिरल (Admiral) (= समुद्र का राजा)।

दूसरी भाषा से शब्द लेते समय प्रत्येक भाषा दूसरी भाषा की विशिष्ट ध्वनियों को अपनी समीपतम ध्वनियों में ढाल लेती हैं; जैसे, अरबी क़्, ग़् ज़् आदि ध्वनियाँ हिन्दी में क्, ग्, ज् बन जाती है।

इस प्रकार संसार की विभिन्न भाषाओं में ध्वनि-विकार की अनेक दिशायें मिलती हैं, जिनमें से कुछ प्रमुख का ऊपर उल्लेख किया गया।

❑

षष्ठ अध्याय

अक्षर

अक्षर–भ्वादिगणीय 'क्षर' सञ्चलने धातु से 'पचाद्यच्' सूत्र से 'अच्' प्रत्यय होकर 'क्षर' शब्द निष्पन्न होता है। फिर 'नञ्' समास में (न क्षरति' इस अर्थ में) 'अक्षर' शब्द बनता है, जिसका व्युत्पत्तिलक्ष्य अर्थ है 'अविनश्वर'।

अमरकोष के अनुसार 'अक्षर' (पद) के ये आठ अर्थ होते हैं—1. मोक्ष, 2. परब्रह्म, 3. वर्ण (अक्षर), 4. आकाश, 5. धर्म, 6. तप, 7. मूल कारण, 8. चिचिड़ा।

अन्य कोश-ग्रन्थों में भी अक्षर के अनेक अर्थों का कथन किया गया है। 'अनेकार्थ कोष' के अनुसार 'अक्षर' के मोक्ष, अपवर्ग, ओ ब्रह्म आदि अनेक अर्थ होते हैं—'मोक्षेऽपवर्गे ओं ब्रह्मण्युच्यतेऽक्षरम्'। इसी प्रकार नानार्थरत्नमाला में भी 'अक्षर' के अनेक अर्थों का उल्लेख है। द्रष्टव्य—अमरकोष 3/182 (अक्षरं तु मोक्षेऽपि) की रामाश्रमीनामक व्याख्यासुधा।

सम्प्रति प्रचलित कोषग्रन्थों में भी अक्षर' शब्द को अनेक अर्थों का वाचक कहा गया है। पुलिङ्ग में वह शिव, विष्णु, स्थिर (हट) आदि अर्थों का वाचक है और नपुंसक लिङ्ग में वह वर्णमाला के एक अक्षर का बोधक है जैसे भगवद्गीता में 'अक्षराणामकारोऽस्मि— 1-33 कहा गया है। वह एक या अनेक वर्ण का भी वाची है।

व्याकरण के क्षेत्र में तो 'अक्षर' शब्द बहुचर्चित है। महाभाष्य में कहा गया है जो क्षर (विनश्वर) नहीं है वह 'अक्षर' है—अक्षरं न क्षरं विद्यात्'। न क्षीयते न क्षरतीति वाऽक्षरम्'। इसी 'अक्षर' को महाभाष्यकार ने 'वर्ण' कहा है—'वर्णं वाऽहुः' महा0 1/1/2

संस्कृत में 'वर्णमाला' का अर्थ है वर्णों का समूह। उसके लिये (वर्णमाला के लिये) संस्कृत-व्याकरण में 'वर्णराशि' तथा 'वर्णसमाम्नाय' शब्द प्रयुक्त होते हैं। ऋक्प्रातिशाख्य में कहा गया है—'इति वर्णराशिः'। इसी प्रकार वाजसनेयि-प्रातिशाख्य में कहा गया है 'अथातो वर्णसमाम्नायं व्याख्यास्यामः'।

'वर्णसमाम्नाय' से यहाँ अभिप्राय चौदह माहेश्वर सूत्रों—'अइउण्', 'ऋऌक्' आदि से अदि से है जिनमें सभी वर्णों (स्वर-व्यञ्जन) का कथन किया गया है। 'ऋक्तन्त्र में इसी वर्णसमुदाय (वर्णसमाम्नाय) को 'अक्षरसमाम्नाय' भी कहा जाता है—

यथाचार्या ऊचुः...खल्विदअक्षरसमाम्नायमित्याचक्षते-ऋक्तन्त्र। इन विवेचनों के आधार पर निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि 'अक्षर' शब्द 'वर्णशब्द' का एक प्रकार से पर्यायवाची हैं। प्रस्तुत प्रसङ्ग में 'अक्षर' से अभिप्राय वर्ण' से है जिसके लिये वैयाकरणों की सहमति भी प्राप्त है।

सम्प्रति व्यवहार में 'अक्षर' शब्द वर्ण-चिह्न के अर्थ में व्यवहृत होता है, जैसे— उसके 'अक्षर बहुत अच्छे हैं', उसके 'अक्षर बहुत खराब हैं' इत्यादि वाक्यों में 'अक्षर' का अभिप्राय 'वर्ण-चिह्न' से है अर्थात् लिखावट से है। इसी प्रकार व्यवहार में 'स्वर' शब्द भी 'अक्षर' का बोधक बन जाता है। इसीलिये संस्कृत में मूल या सामान्य स्वर को 'समानाक्षर' तथा संयुक्त स्वर को 'सन्ध्यक्षर' भी कहते हैं।

वस्तुतः भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में 'अक्षर' शब्द पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त है। इस प्रकार वह वस्तुतः अंग्रेजी के शब्द 'सिलेबल' (Syllable) का पर्याय है। यहाँ पर इसी अर्थ में उसका प्रयोग किया जा रहा है। उसको हम इस रूप से परिभाषित कर सकते हैं—

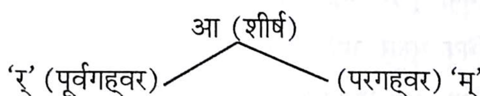
"अक्षर एक ध्वनि अथवा एकाधिक ध्वनियों की ऐसी इकाई है जिसका उच्चारण एक झटके में होता है तथा जिसमें एक स्वर अवश्य होता है। उस स्वर के पहले या बाद में एक अथवा अधिक व्यञ्जन रह भी सकते हैं और नहीं भी रह सकते हैं।" उदाहरणस्वरूप हम निम्नाङ्कित वाक्य को ले सकते हैं—

'आ' (तू मेरे घर 'आ') यहाँ पर 'आ' एक अक्षर है जिसमें केवल स्वर हैं। इसी प्रकार 'जा' (जाओ) अक्षर है। इसमें एक व्यञ्जन 'ज्' तथा एक स्वर 'आ' है। 'आप' एक अक्षर है, इसमें 'आ' स्वर तथा 'प्' व्यञ्जन है। इसी प्रकार 'काम' अक्षर में 'क्' व्यञ्जन है, फिर 'आ' स्वर है, तदनन्तर 'म्' व्यञ्जन है। इसी प्रकार 'प्यार' शब्द में 'प्' तथा 'य्' दोनों व्यञ्जन हैं, फिर उसके बाद 'आ' स्वर है, फिर 'र्' व्यञ्जन है। 'प्राप्त' में प् + र् दोनों व्यञ्जन हैं, 'आ' स्वर है, फिर 'प्' तथा 'त्' दोनों व्यञ्जन हैं।

'काला' (का + ला), 'पानी' (पा + नी), 'तारे' (ता + रे) इन तीनों शब्दों में दो-दो अक्षर हैं। 'आवारा' (आ + वा + रा), 'जादूगर' (जा + दू + गर), 'सुन्दरता' (सुन् + दर +ता), 'आइये' (आ + इ + ये) में तीन-तीन अक्षर हैं।

अक्षर की विशेषता शीर्ष (शृङ्ग) तथा गह्वर (गर्त) (Peaks and Valleys)– अक्षर में स्वर शीर्ष उच्च (Peak) अथवा केन्द्रक (Nucleus) होता है तथा उसका पूर्ववर्ती तथा परवर्ती व्यञ्जन क्रमशः 'पूर्वगह्वर' (Onset) तथा 'परगह्वर' (Cola) कहलाता है। उच्चारण में शीर्ष (उच्च) स्वर पूर्वगह्वर अथवा परगह्वर की अपेक्षा अधिक मुखर होता है।

अधोलिखितचित्र के द्वारा 'राम' शब्द को दृष्टिगत कर इस कथन को समझा जा सकता है—



कभी-कभी कुछ भाषाओं में कुछ व्यञ्जन भी शीर्ष (शृंङ्गा) का काम करते हैं, तब इन्हें आक्षरिक व्यञ्जन (Syllabic Consonant) कहते हैं। इसके विपरीत कभी-कभी

'पूर्व' और 'पर' गहवर में स्वर भी आते हैं और तब उस स्वर को अनाक्षरिक स्वर (Non-Syllabic Vowel) कहते हैं।

आक्षरिक व्यञ्जन (Syllabic Consonant)–साधारणतः व्यञ्जन शीर्ष (शृंङ्ग) नहीं होते, पर कभी-कभी वे शीर्ष (शृंङ्ग) का काम करते हैं, तब उन्हें आक्षरिक व्यञ्जन कहा जाता है। वे आक्षरिक व्यञ्जन अपनी समीपवर्ती ध्वनियों से अधिक मुखर होते हैं। उनमें मुख्य रूप से परिगणित हैं—'म्', 'न्', 'ल्' तथा 'र्'। कहीं-कहीं 'स्' भी आक्षरिक रूप से मुखर पाया जाता है। अन्य व्यञ्जन भी आवश्यकता के अनुसार आक्षरिक हो सकते हैं, जैसे—'एप्ल' (Apple-सेव), 'रिथ्म' (Rhythm-लय) तथा बटन (Buttan)। इन तीनों में दूसरे अक्षर में कोई स्वर नहीं है और अन्त में क्रमशः 'ल्', 'म्' तथा 'न्' व्यञ्जन हैं। ये तीनों व्यञ्जन अधिक मुखरता के साथ उच्चरित होते हैं। अतः स्वर के समान माने जाने के कारण आक्षरिक हैं।

अनाक्षरिक स्वर (Non-Syllabic Vowel)–कई स्वरों की स्थिति में आक्षरिक स्वर का निर्णय बलाघात के आधार पर किया जाता है, जैसे—'आए', 'गए' आदि शब्दों में दोनों स्वर मुखर हैं तो दोनों को स्वतन्त्र आक्षरिक माना जायगा। यदि शब्द के दो स्वरों में एक मुखर है और दूसरा नहीं तो दोनों स्वरों को एक ही आक्षरिक माना जायगा, क्योंकि अमुखर अनाक्षरिक हो जायगा। जैसे—'ए' (अ + इ), 'ओ' (अ + उ) में क्रमशः प्रथम ध्वनि 'अ' (स्वर) मुखर होने के कारण आक्षरिक है और दूसरी ध्वनि 'इ, उ' मुखर न होने के कारण व्यञ्जनों के समान अनाक्षरिक है।

मुखरता के आधार पर ध्वनियों के भेद–'भाषा-शास्त्र' तथा 'भाषा-विज्ञान' नामक ग्रन्थ में (पृ० 206-7) इसके लेखक ने आन्तरिक मुखरता के आधार पर ध्वनियों को निम्नाङ्कित आठ वर्गों में विभाजित किया है, इनमें क्रमशः बाद वाली ध्वनियाँ अधिक मुखर हैं—

1. सबसे कम मुखर ध्वनियाँ (अघोष स्पर्श)—क्, ख्, च्, छ्, त्, थ् आदि।
2. उससे अधिक मुखर (सघोष ध्वनियाँ)—ग्, घ्, द्, ध्, ब्, भ् आदि।
3. उससे अधिक मुखर नासिक्य तथा पार्श्विक ध्वनियाँ—ङ्, ण्, न्, म्, ल् आदि।
4. उससे अधिक मुखर लुण्ठित ध्वनि—र्।
5. उससे अधिक मुखर संवृत स्वर—इ, उ।
6. उससे अधिक मुखर अर्ध संवृत् स्वर—ए, ओ।
7. उससे अधिक अर्ध विवृत स्वर—एँ, ओॅ।
8. सबसे अधिक मुखर विवृत स्वर—आ।

उक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि अघोष ध्वनियों की अपेक्षा सघोष ध्वनियाँ

अधिक मुखर हैं। उनसे भी अधिक नासिक्य ध्वनियाँ तथा उनसे भी अधिक मुखर लुण्ठित ध्वनियाँ हैं। यह तो व्यञ्जन-ध्वनियों की मुखरता का क्रम है। व्यञ्जनों से अधिक मुखर स्वर-ध्वनियाँ हैं। उनके क्रम का निर्धारण इस आधार पर होता है कि जो ध्वनि जितनी अधिक संवृत (बन्द) है, वह उतनी ही कम मुखर है। जो ध्वनि जितनी विवृत होती जायगी, वह उतनी ही मुखर हो जायगी। इस प्रकार पूर्ण विवृत होने के कारण 'आ' ध्वनि सबसे अधिक मुखर है। उस ध्वनि के इसी मुखरता के आधार पर गायक-मण्डली 'आ' ध्वनि का आलाप करती हैं।

अक्षर के भेद–भाषाविदों ने अक्षर के भेद पर भी विचार किया है। विचार के अनुसार अक्षर दो प्रकार के होते हैं—1. बद्धाक्षर और 2. मुक्ताक्षर।

बद्धाक्षर (बद्ध-अक्षर) (Closed Syllable)–जिसके अन्त में व्यञ्जन की स्थिति रहती है, उसे बद्धाक्षर कहते हैं, जैसे—आप्, एक्, सीख्, विद्वान् आदि। इन शब्दों में अन्तिम अक्षर व्यञ्जन है, अतः इनका उच्चारण हलन्त् (व्यञ्जनान्त) के रूप में होता है। यद्यपि लेख़न में ये शब्द अजन्त के रूप में लिखे जाते हैं। जैसे—आप, एक, सीख, विद्वान आदि परन्तु उच्चारण में उनकी स्थिति हलन्त् के रूप में होती है। भाषा-विज्ञान में उच्चरित रूप को ही आधार बनाकर अधिक विचार किया जाता है।

मुक्ताक्षर (मुक्त-अक्षर) (Open Syllable)–जिसके अन्त में स्वर हो उसे मुक्ताक्षर कहा जाता है, जैसे—गमन, भोजन, जा, या, खा, ले, लेना, देना।

अंग्रेजी की पुस्तकों में 'बद्ध अक्षर' को 'C' (Consonant) व्यञ्जन के द्वारा तथा 'मुक्त अक्षर' को 'V' (Vowel) के द्वारा सूचित किया जाता है, जैसे—'पाठ' (प् + आ + ठ् + अ) को C V C V तथा 'वाक्' (व् + आ + क्) को C V C द्वारा सूचित किया जाता है।

प्रत्येक भाषा में एकाक्षरी शब्द सर्वाधिक होते हैं। यदि 'स' को स्वर तथा 'व' को व्यञ्जन मान लिया जाय तो विभिन्न भाषाओं में एकाक्षरी शब्द आक्षरिक संरचना की दृष्टि से अनेक प्रकार के मिलते हैं।

हिन्दी में अक्षर में स्वर का शीर्ष रूप में आना आवश्यक है। उसके पूर्व एक, दो या तीन व्यञ्जन आ सकते हैं तथा अन्त में एक, दो, तीन या चार व्यञ्जन।

हिन्दी की आक्षरिक संरचना अर्थात् हिन्दी की अक्षर-संरचना को दृष्टिगत कर उसे शीर्ष तथा पूर्व और पर अक्षर की दृष्टि से चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

1. मात्रा—शीर्ष वाला (आ, ओ) आदि। 2. पूर्वगह्वर शीर्ष (ला, क्या, स्त्री) आदि। 3. शीर्ष + गह्वर (आज, आप्त, आर्द्र) आदि। 4. पूर्वगह्वर + शीर्ष + परगह्वर (काम्, शान्त, वस्त्र, वर्त्स्य-क्रम, स्वास्थ्य, स्त्रीत्व)।

भाषाओं में एकाधिक अक्षरों के भी शब्द होते हैं। इस सन्दर्भ में हिन्दी का उदाहरण लेकर इसको स्पष्ट किया जा सकता है—

1. द्व्यक्षरी—(अभी, गणित, प्रकार) आदि। 2. त्र्यक्षरी—(आवारा, पढ़ाई, उत्साहित) आदि। 3. चतुरक्षरी—(अभिनन्दन, कठिनाई) आदि। 4. पञ्चाक्षरी—(अनिर्वचनीयता, बताइएगा, अन्धानुकरण) आदि। 5. अभ्यास—अब् - भ्यास्। 6. व्याख्यान—व्याक्-ख्यान्। 7. वाक्यांश—वाक्-क्यांश। 8. लगभग—लग-भग। 9. भरद्वाज—भ-रद-द्वाज।

यहाँ इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि एकाधिक अक्षरों वाले शब्दों के उच्चारण में ठीक-ठीक अक्षर-विभाजन आवश्यक होता है। जैसे—'वक्ता' में 'वक् +ता' ठीक है, न कि 'व + क्ता'। 'पथिक' में 'प + थिक' ठीक है, न कि 'पथ + इक'। गलत आक्षरिक विभाजन से उच्चारण तो अशुद्ध हो ही जाता है, कभी-कभी अर्थ भी प्रभावित होता है, जैसे—'ना + प + ता'—'नाप + ता', 'म + धुर +ता'—'म + धु + रता', 'मा + नव + ता'—'मान + व + ता' आदि।

भाषाओं में अक्षर-विभाजन के लिये अपने नियम होते हैं। किसी सर्वग्राह्य मानक के न होने पर विदेशी भाषा के शब्दों के उच्चारण में अक्षर-विभाजन सम्बन्धी त्रुटियाँ हो जाती हैं।

यहाँ यह भी ध्येय है कि अक्षर-विभाजन का आधार लेखन या वर्तनी नहीं होनी चाहिये, उसके (विभाजन) का आधार उच्चारण होना समीचीन है, जैसे—

1. उपन्यास शब्द में—उ - पन - न्यास्।
2. अभ्यास शब्द में—अब् - भ्यास्।
3. व्याख्यान शब्द में—व्याक् - ख्यान्।
4. वाक्यांश शब्द में—वाक् - क्यांश।
5. लगभग शब्द में—लग - भग।
6. भरद्वाज शब्द में—भ - रद् - द्वाज।

बलाघात

आघात–'आघात' शब्द 'आ' उपसर्गपूर्वक 'हन्' हिंसागत्योः 'धातु' से 'धञ्' प्रत्यय के योग से निष्पन्न होता है। जिसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—चोट अथवा प्रहार। इन अर्थों के अतिरिक्त भी कोश-ग्रन्थों में इस शब्द के अनेक अर्थ दिये गये हैं, परन्तु भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में इसको विशेष रूप से गृहीत किया जाता है। मनुष्य का ध्वनि-यन्त्र वीणा या सितार जैसे ध्वनि-यन्त्रों की ही भाँति है। इन वाद्य-यन्त्रों के तारों में तनाव अथवा शैथिल्य पैदा करने के कारण सङ्गीत के विभिन्न स्वरों की उत्पत्ति होती रहती है। बोलने

में प्रायः हम देखते रहते हैं कि किसी शब्द के एक भाग पर कुछ अधिक बल होता है तथा दूसरे भाग पर कम। इसी प्रकार वाक्य के किसी एक शब्द अथवा भाग या शब्द के एक भाग पर अधिक बल दिया जाता है।

'आघात' शब्द अंग्रेजी शब्द 'एक्सेंट' (Accent) के प्रति शब्द के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। सम्प्रति हिन्दी-पुस्तकों में 'एक्सेंट' के लिये 'बल', 'स्वर', 'स्वराघात' आदि शब्दों का भी प्रयोग किया जा रहा है। अंग्रेजी के 'एक्सेंट' शब्द का प्रयोग मुख्यतः तीन अर्थों में मिलता है। कुछ भाषा-वैज्ञानिक इस शब्द का विस्तृत अर्थ लेकर उसमें मात्रा, सुरलहर, बलाघात ध्वनि-प्रक्रिया (आगम लोप), ध्वनि-प्रकृति आदि सभी का परिगणन करते हैं। दूसरे वैज्ञानिक 'एक्सेंट' शब्द का केवल सीमित अर्थ लेकर उसका अर्थ बलाघात लेते हैं। भाषा-वैज्ञानिकों का तीसरा वर्ग ऐसा है जो उक्त (आघात) शब्द से बलाघात एवं स्वराघात (सुर या सुराघात) केवल ये दो अर्थ गृहीत करता है। यही अर्थ अधिक प्रचलित है।

आघात मुख्यतः दो प्रकार का होता है—(1) बलात्मक आघात या बलाघात, (2) स्वरात्मक आघात या स्वराघात।

बोलते समय यह देखने में आता है कि किसी ध्वनि का उच्चारण अधिक बल से किया जाता है, किसी का कम बल से। इसी प्रकार किसी का उच्चारण ऊँचे सुर से होता है तो किसी का नीचे सुरे से। उपर्युक्त भेद इसी आधार पर किया जाता है। इन दोनों आघात को शब्दगत और वाक्यगत रूप में भी विभाजित किया जा सकता है। उन दोनों के कारण शब्दों और वाक्यों के अर्थ में अन्तर भी पड़ सकता है।

बलाघात (Stress Accent)–बलात्मक आघात या बलाघात का सम्बन्ध फेफड़ों से होता है। इसमें फेफड़ों से वायु तेजी से आती है जिसका परिणाम यह होता है कि जिस अक्षर पर बलाघात होता है, वह शेष अक्षरों की अपेक्षा अधिक मुख्य हो जाता है। इस प्रकार बलाघात को यों परिभाषित की जा सकती है—

"किसी एक अक्षर पर तीव्रता की वह मात्रा जो उसे समीपवर्ती अक्षरों से अधिक प्रमुख अथवा जोर से सुनने योग्य बना देती है, 'बलाघात' कही जाती है।"

बलाघात किसी एक अक्षर पर होता है, उसके परिणामस्वरूप बलाघात से युक्त अक्षर अन्य अक्षरों की अपेक्षा अधिक प्रमुख बन जाता है। आज के आधुनिक भाषाओं में बलाघात की सत्ता पायी जाती है।

अन्तर्राष्ट्रीय ध्वनि-विज्ञान परिषद के द्वारा बलाघात के लिये चिह्न का विधान किया गया है, जिसके परिणामस्वरूप रोमन-लिपि में चिह्न-विशेष का प्रयोग होता है, परन्तु देवनागरी-लिपि में बलाघात के लिये किसी चिह्न-विशेष का विधान नहीं किया गया है।

बलाघात किस अक्षर अथवा ध्वनि पर कितनी मात्रा में हो, इसके लिये किसी नियम का निर्धारण नहीं है। प्रत्येक भाषा की प्रवृत्ति और प्रवाह के अनुसार ये बातें बदलती रहती हैं। संसार की अधिकांश भाषाओं में किसी न किसी रूप में यह 'बलाघात' अवश्य मिलता है।

बलाघात के भेद–बलाघात के दो भेद होते हैं—(1) शब्द-बलाघात, (2) वाक्य-बलाघात।

1. शब्द-बलाघात–एक सामान्य वाक्य में सभी शब्दों पर लगभग बराबर बलाघात लगता है/ 'राम ने मोहन को डण्डे से मारा', यह एक सामान्य वाक्य है, परन्तु आवश्यकतानुसार इसके किसी शब्द पर अधिक बलाघात होगा तो इस वाक्य के अर्थ में थोड़ा परिवर्तन आ जायगा। वाक्य-गठन में कभी-कभी वाक्य के सबसे महत्त्वपूर्ण शब्द का नियमन ठीक से न होते हुए भी उसे पहले रख देते हैं। 'मोहन को तुमने मारा' या 'डण्डे से तुमने मारा' इन दोनों वाक्यों में बल देने के लिये 'मोहन' और 'डण्डे' का अनिमित्त होते हुये भी पहले रख दिया गया है। उसी प्रकार बल देने के लिए शब्द-विशेष पर भी 'बलाघात' डाल दिया जाता है। उपर्युक्त वाक्यों में अर्थबोधक शब्द चार हैं—'राम', 'मोहन', 'डण्डे' और 'मारा'। इन चारों में किसी पर भी बलाघात डालकर अर्थ की विशेषता को प्रकाशित किया जा सकता है। 'राम' पर बल देने का अर्थ होगा कि 'राम ने मारा', अन्य किसी ने नहीं। इसी प्रकार 'डण्डे' पर बल देने का अर्थ होगा कि 'डण्डे से मारा' और किसी अस्त्र (वस्तु) से नहीं। इसी प्रकार औरों पर भी बल देने से अर्थ में परिवर्तन हो जायगा।

यहाँ पर ध्यातव्य है कि इस बलाघात का सम्बन्ध अर्थ से है। बलाघात में थोड़ा भी बदलाव करने पर अर्थ में परिवर्तन हो जाता है। शब्द-बलाघात संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, प्रधान क्रिया तथा क्रिया-विशेषण भी हो सकता है। कुछ भाषाविद् इस प्रकार के बलाघात को वाक्य-बलाघात कहते हैं।

2. वाक्य-बलाघात–साधारणतः सामान्य बातचीत में बलाघात की दृष्टि से वाक्य लगभग समान होते हैं, किन्तु कभी-कभी आश्चर्य, भावावेश, आज्ञा या प्रश्न आदि से सम्बद्ध होने पर कुछ वाक्य अपने समीपवर्ती वाक्यों से अधिक जोर देकर बोले जा सकते हैं। वाक्य में भी कभी-कभी तो बल कुछ ही शब्दों पर होता है, परन्तु कभी-कभी पूरे वाक्य पर होता है। आस-पास के वाक्यों की तुलना में अधिक बलाघातयुक्त प्रयोग के कारण इस स्तर के बलाघात को वाक्य-बलाघात कहा जाता है।

बलाघात के अन्य भेद–भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में निःश्वास के बल देने के आधार पर अधोलिखित तीन भेद भी माने जाते हैं—1. सबल, 2. समबल, 3. निर्बल

निःश्वास का बल सबसे अधिक 'सबल' में होता है, उससे कम 'समबल' में और उससे कम 'निर्बल' में होता है, जैस–'अभ्यन्तर' शब्द में 'अ' 'निर्बल' ध्वनि है, 'भ्य'

'सबल' ध्वनि है तथा 'तर' 'समबल' ध्वनि है। इसी प्रकार 'पत्थर' में 'पत्' और 'चन्दा' में 'चन्' 'सबल' ध्वनियाँ हैं।

स्वराघात–स्वर-तन्त्रियों में तनाव पैदा होने पर सङ्गीत के सरगम की भाँति उनमें सुर निकलता है और स्वर-ध्वनियों के निष्क्रिय होने पर सुर नहीं निकलता है। इससे यह सिद्ध होता है कि सुर (स्वर) सघोष ध्वनियों में ही उत्पन्न होता है। वस्तुतः ध्वनियों की भौतिक तीव्रता से प्राप्त मनोवैज्ञानिक प्रभाव ही 'स्वराघात' कहलाता है। बलाघात एवं स्वराघात में अन्तर यह है कि बलाघात अक्षर पर होता है और स्वराघात ध्वनि पर होता है।

जिन भाषाओं में स्वराघात पाया जाता है, उनको सुनने वाला अन्य भाषा-भाषी ऐसा समझता है कि जैसे कोई गा रहा है। इस प्रकार की भाषाओं में ध्वनियों का उच्चारण बहुत कुछ सङ्गीत के सप्तक की भाँति होता है।

स्वराघात की दृष्टि से संस्कृत-भाषा को विचार-पथ पर लाया जा सकता है। वैदिक भाषा में स्वरों का बहुत अधिक महत्त्व माना जाता है। वहाँ स्वरों के उच्चारण में स्वल्प भी स्खलन अनर्थ का कारण हो जाता है। वहाँ तीन प्रकार के स्वर पाये जाते हैं— 1. उदात्त, 2. अनुदात्त, 3. स्वरित। उसमें इन तीन स्वरों में से दो के लिये ज्ञापक-चिह्न भी होते हैं। उदात्त के लिये कोई चिह्न निर्धारित नहीं है, अनुदात्त के लिये पड़ी लकीर (—) तथा स्वरित के लिये ऊपर खड़ी पाई (।) दी जाती है। इस स्वर-भेद से वहाँ बलाघात भी तीन प्रकार का हो जाता है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि वैदिक भाषा में इन स्वरों के उच्चारण पर विशेष रूप से ध्यान केन्द्रित करना पड़ता है। स्वरगत उच्चारण सम्बन्धी त्रुटि उद्देश्य-सिद्धि में बाधक ही नहीं बनती, अपितु अनर्थ का कारण भी बन जाती है।

संस्कृत के अतिरिक्त प्राचीन 'ग्रीक' भाषा में तीन प्रकार के स्वराघात विद्यमान थे, जिन्हें अक्यूट (उदात्त), ग्रेव (अनुदात्त), सरकम्प्लेक्स (स्वरित) कहा जाता है।

आधुनिक जीवित भाषाओं में 'चीनी' भाषा स्वराघात की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। उसमें चार प्रकार के स्वराघात पाये जाते हैं। वर्तमान काल में स्वराघात की स्थिति लगभग न के बराबर है।

बलाघात और मात्रा–इन दोनों में अन्तर यह है कि मात्रा में समय की माप (नाप) मुख्य है अर्थात् उसमें ध्वनि के उच्चारण में समय कम लगा या अधिक, इसका विचार किया जाता है। इसके विपरीत बलाघात में समय का विचार नहीं किया जाता। 'बलाघातयुक्त' ध्वनि और 'बलाघातहीन' ध्वनि में तो समय एक ही जैसा लगता है, किन्तु 'बलाघातयुक्त' ध्वनि अधिक जोर से (या झटके से) सुनायी पड़ती है। बलाघात का प्रयोग प्रायः भाषा के कथित या उच्चरित रूप में होता है, लिखित रूप से नहीं। लिखित रूप सामान्य ही होता है, केवल भाषा-कोषों में ऐसे शब्दों पर बलाघातसूचक विशेष चिह्नों का प्रयोग किया जाता है।

यहाँ यह ध्येय है कि बलाघात-प्रधान भाषाओं में बलाघात के स्थान-परिवर्तन से अर्थ-भेद भी हो जाता है।

प्रभाव–ध्वनि की दृष्टि से, बलाघात का भाषाओं पर यह प्रभाव पड़ता है कि बलाघातयुक्त ध्वनि की स्थिति सुदृढ़ हो जाती है तथा निकटवर्ती ध्वनि या तो दीर्घ से ह्रस्व हो जाती है या निर्बल होकर लुप्त हो जाती है। उदाहरण के रूप में 'अभ्यन्तर' शब्द को लिया जा सकता है। हिन्दी में इसका विकास 'भीतर' के रूप में मिलता है, जिसमें सबल ध्वनि 'भ्य' तथा समबल ध्वनि 'तर' बची रह गयी किन्तु निर्बल ध्वनि 'अ' लुप्त हो गयी।

इसी प्रकार 'उपाध्याय' शब्द में सबल होने के कारण 'उपा' के रूप में बच गया और शेष अङ्क लुप्त हो गया। ऐसे ही 'पिता' शब्द में 'ता' पर बलाघात रहने के कारण 'पि' की स्थिति निर्बल हो गयी और अवेस्ता भाषा ने वह (पिता) 'ता' हो गया।

हिन्दी में बलाघात प्रायः शब्दों की उपान्त ध्वनि पर होता है, जिसके कारण अकारान्त शब्दों के अन्तिम अक्षर (अ) प्रायः हल् हो जाते हैं, जैसे–कमल से कमल्, राम से राम्, दाल से दाल् आदि।

प्राचीन भाषाओं में लैटिन एवं अवेस्ता बलाघात-प्रधान भाषा थी। आधुनिक भाषाओं में अंग्रेजी, वेल्स, ईरानी आदि बलाघात-प्रधान हैं।

लय

भाषा-विज्ञान में स्वर (सुर) विवेचन के प्रसङ्ग में 'लय' की मीमांसा की गयी है। 'लय' के विश्लेषण के पूर्व उसकी ('लय' शब्द की) व्युत्पत्ति तथा अर्थ का ज्ञान अपेक्षित है।

'लय' शब्द की व्युत्पत्ति एवं अर्थ–दिवादिगणीय 'लीङ्' (ली) संश्लेषणे धातु से 'एरच्' सूत्र से 'अच्' प्रत्यय लगाकर पुंल्लिङ्ग में 'लय' शब्द निष्पन्न होता है, जिसका व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है–चिपकना, मिलाप, लगाव आदि। परन्तु यह सङ्गीत-शास्त्र का पारिभाषिक शब्द है। अमरकोषकार ने साम्य को 'लय' 'लयः साम्यम्' कहा है। अमरकोष के प्रख्यात व्याख्याकार श्री भानुजिदीक्षित ने 'लय' को इस प्रकार परिभाषित (व्याख्यात) किया है—

'गीतवाद्यपादादिन्यासानां क्रियाकालयोः साम्यं लयः', अर्थात् जिसमें गाने, बजाने और हाथ 'भ्रू' (भौंह) आदि चलाकर भाव दिखाने के लिये समय एवं क्रिया की कमी-वेशी का प्रमाण रहता है, उसे 'लय' कहते हैं।

विभिन्न कोश-ग्रन्थों में इसके चिपकना, अदर्शन, विनाश, विघटन, मन की न्यूनता, सङ्गीत की लय (द्रुत, मध्य और विलम्बित) आदि अनेक अर्थ होते हैं। सङ्गीत में इसका विशेष विवेचन होता है। भाषा-विज्ञान में भी यह शब्द पारिभाषिक शब्द के रूप में गृहीत है।

'लय' की परिभाषा–"भाषा में ध्वनि के सुर (स्वर) की विभिन्नतायें 'लय' कही जाती हैं।" "Intonations the variations which take place in the pitch of the voice in connected speech."

जिस प्रकार प्रत्येक शब्द के स्वराघात के परिवर्तन अथवा सुर के परिवर्तन के कारण अर्थ-भेद हो जाता है, उसी प्रकार वाक्य में अथवा बातचीत के दौरान ध्वनि की 'सुर' की विभिन्नताओं के कारण अर्थ-परिवर्तन हो जाता है। इस प्रकार 'लय' के परिवर्तन के द्वारा एक ही वाक्य से अधोलिखित कई प्रकार के अर्थ निकाले जा सकते हैं—

(1) सामान्य अर्थ

(2) प्रश्नसूचक अर्थ

(3) आज्ञासूचक अर्थ

(4) आश्चर्यसूचक अर्थ।

जहाँ तक 'लय' की संख्या का प्रश्न है, वह प्रत्येक भाषा की प्रकृति के अनुसार बदलती रहती है। हिन्दी में पाँच-छः प्रकार की 'लय' पायी जाती है। इसी तरह अंग्रेजी में पचासों प्रकार की 'लय' मिलती है। चार्ल्स एफ0 हॉकेट ने अपनी पुस्तक (A Course of Modern Linguistics) में अंग्रेजी में 115 प्रकार की 'लय' की गणना करायी है। वस्तुतः यह (लय) प्रत्येक भाषा की प्रकृति के अनुसार बदलती रहती है।

वस्तुतः 'स्वर' और 'लय' सङ्गीतरूपी भवन के दो स्तम्भ हैं। 'लय' से मात्रा तथा मात्रा से ताल बनता है। ताल अनेक होते हैं, जैसे–झप ताल आदि।



सप्तम अध्याय

विश्वभाषाओं का वर्गीकरण

वर्गीकरण का उद्देश्य एवं उपयोगिता–विश्व में अनेक देश, अनेक जातियों तथा अनेक संस्कृतियों के साथ अनेक भाषायें विद्यमान हैं। अन्य विषयों की भाँति मनुष्य के मस्तिष्क में विश्व की भाषाओं के सम्बन्ध में भी अनेक जिज्ञासायें उत्पन्न होती हैं, जैसे–सम्पूर्ण विश्व में यदि अनेक भाषायें हैं तो उनकी संख्या कितनी है? उनमें परस्पर क्या समता और विषमता है? समता-विषमता के आधार पर विश्व की भाषाओं को कितने वर्गों (समूहों) में रखा जा सकता है? इन अनेक प्रश्नों (जिज्ञासाओं) का समाधान विश्व की भाषाओं के वर्गीकरण द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। किस भाषा को किस वर्ग में रखा जाय, इस प्रश्न के समाधान में कठिनाई यह है कि भाषाओं में भेदक-तत्त्व इतने स्पष्ट नहीं होते, जिनके आधार पर उन्हें (भाषाओं को) किसी वर्ग-विशेष में सुगमता से स्थान दिया जा सके।

आज के इस वैज्ञानिक युग में प्रत्येक विषय के अध्ययन में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का जो महत्त्व है, उससे भाषा के क्षेत्र को भी पृथक् नहीं कर सकते। अतः भाषाओं के वैज्ञानिक अध्ययन के लिये, भाषाओं का वर्गीकरण नितान्त उपयोगी है। इसी (उपयोगिता के) बिन्दु को लेकर भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में भाषाओं के वर्गीकरण को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। ज्यों-ही हम वर्गीकरण पर विचार करने की बात करते हैं, त्यों-ही हमारे समक्ष निम्नाङ्कित बातें ज्ञातव्य के रूप में उपस्थित हो जाती हैं—1. विश्व की भाषाओं की संख्या। 2. उनके वर्गीकरण का आधार। 3. वर्गीकरण हेतु वर्गों का स्वरूप और संख्या।

भाषाओं की संख्या–संसार का क्षेत्र अति विशाल है। सम्पूर्ण विश्व में विभिन्न क्षेत्रों में अनेक भाषायें बोली जाती हैं। ऐसी स्थिति में सम्पूर्ण भाषाओं की सही संख्या के विषय में निश्चयात्मक रूप से कुछ कहना नितान्त कठिन है। कुछ विद्वानों ने भाषाओं की संख्या 2796 मानी है। इस बात का उल्लेख डॉ० देवेन्द्रनाथ शर्मा ने 'भाषा-विज्ञान की भूमिका' नामक अपने ग्रन्थ में किया है। अनुमान के आधार पर भाषाओं की संख्या 3000 (तीन हजार) के लगभग मानी जा सकती है। भाषाओं की संख्या चाहे जो भी अनुमित की जाय, वह निःसंदिग्ध नहीं हो सकती।

वर्गीकरण के आधार–भाषाओं के वर्गीकरण का आधार क्या होना चाहिये? इस विषय की ओर भी विद्वानों का ध्यान बहुत पहले गया था। अध्ययन से निम्नाङ्कित आधार किसी न किसी रूप में दृष्टिगोचर होते हैं—1. देश, 2. धर्म, 3. आकृति, 4. इतिहास।

सूक्ष्म रूप से इन आधारों का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि दो

आधार 'देश' तथा 'धर्म' निरर्थक होने के कारण उपेक्षित से हो गये हैं। 'देश' को आधार बनाकर भाषाओं के वर्गीकरण की प्रारम्भिक काल में जो प्रवृत्ति चली थी, वह खरी नहीं उतरी, क्योंकि उसके आधार पर (देश के आधार पर) भारत की भाषायें, यूरोप की भाषायें, एशिया की भाषायें, अमरीका की भाषायें, इस प्रकार जो वर्गीकरण किया गया था, वह तर्क-सङ्गत नहीं था। उसका कारण यह था कि भारत जैसे एक ही देश में अनेक भाषायें दृष्टिगोचर हुयीं, जिनमें परस्पर असमानता थी और इसके विपरीत विभिन्न देशों की भाषाओं (संस्कृत, जर्मन, ग्रीक आदि) में समानतायें प्राप्त हुयीं।

इसी प्रकार धर्म के आधार पर आर्य-भाषायें, ईसाई-भाषायें, मुस्लिम-भाषायें आदि का इस प्रकार किया गया वर्गीकरण भी ठीक नहीं माना गया। इस वर्गीकरण की सर्वप्रमुख कठिनायी यह रही, जब एक देश के व्यक्ति ही एक प्रकार की भाषा नहीं बोल सकते, तो फिर विभिन्न देशों के धर्मानुयायी एक जैसी भाषा कैसे बोल सकते हैं?

उपर्युक्त प्रकार से विवेचन करने पर यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि 'धर्म' और 'देश' को वर्गीकरण का आधार नहीं माना जा सकता। अतः आधुनिक काल में दो आधार **'आकृति'** तथा **'इतिहास'** ऐसे हैं, जिनके आश्रयण पर भाषाओं का वर्गीकरण किया जाता है।

1. आकृतिमूलक वर्गीकरण (Morphological or Syntactical Classification)–इस वर्गीकरण को रूपात्मक, रचनात्मक, पदात्मक या वाक्यात्मक भी कहते हैं।

2. पारिवारिक वर्गीकरण (Geneological Classification)–इस वर्गीकरण को ऐतिहासिक वर्गीकरण (Historical Classification) भी कहते हैं, क्योंकि इस वर्गीकरण में भाषा के इतिहास को भी आधार बनाया जाता है। इस वर्गीकरण को उत्पत्तिमूलक वर्गीकरण भी कहते हैं। किस भाषा से कौन सी भाषा या विभाषा का जन्म हुआ? इस आधार पर एक भाषा से उत्पन्न सभी भाषायें और विभाषायें एक परिवार में रखी जाती हैं।।

आकृतिमूलक वर्गीकरण–आकृति अर्थात् शब्दों या पदों की रचना के आधार पर भाषाओं का जो वर्गीकरण किया जाता है, वह 'आकृतिमूलक वर्गीकरण' कहलाता है। वाक्य के प्रयुक्त पदों में एक मूल शब्द होता है, जिसे 'प्रकृति' कहते हैं और दूसरा 'प्रत्यय' होता है। इन्हीं दोनों (प्रकृति और प्रत्यय) के योग से अनेक पद बनते हैं। उन पदों में जो प्रत्यय लगते हैं, वे रूप (रूपतत्त्व) कहे जाते हैं। रूपतत्त्व के कारण ही इस वर्गीकरण को रूपात्मक कहा जाता है। पद-रचना और वाक्य-रचना भी आकृति के अन्तर्गत हैं। इस आकृतिमूलक वर्गीकरण में भाषाओं में प्रयुक्त पदों की आकृति अर्थात् रूप-रचना को दृष्टिगत किया जाता है।

स्वरूप के आधार पर इसके मुख्यतः दो भेद होते हैं—1. अयोगात्मक, 2. योगात्मक।

इस प्रकार के दो भेदों (भागों) को मान्यता देने वाले तारापुरवाला, बाबूराम सक्सेना, भोलानाथ तिवारी प्रभृति विद्वान् हैं।

1. अयोगात्मक–'अयोगात्मक' भाषा उसे कहते हैं, जिसमें प्रकृति-प्रत्यय जैसी कोई वस्तु नहीं होती। प्रत्येक शब्द की स्वतन्त्र सत्ता होती है और वाक्य में प्रयुक्त होने पर भी वह ज्यों की त्यों बनी रहती है।

2. योगात्मक–'योगात्मक' भेद में भाषाओं में प्रकृति-प्रत्यय के योग से शब्दों की निष्पत्ति मानी जाती है। इसके तीन भेद हैं—

1. अश्लिष्ट योगात्मक, 2. श्लिष्ट योगात्मक, 3. प्रश्लिष्ट योगात्मक।

विशेष–यहाँ यह ध्येय है कि डॉ0 मंगलदेव शास्त्री जैसे कुछ विद्वान् इस सन्दर्भ में अयोगात्मक एवं योगात्मक इन दो भेदों के अतिरिक्त 'विभक्तियुक्त' एक तीसरा भेद भी मानते हैं। इस प्रकार अयोगात्मक तथा योगात्मक ये तीन भेदों को मिलाकर आकृतिमूलक वर्गीकरण के आधार पर विश्व की भाषाओं के अधोलिखित चार वर्ग हो सकते हैं—

1. अयोगात्मक भाषायें, 2. अश्लिष्ट प्रत्यय-प्रधान भाषायें, 3. श्लिष्ट या विभक्ति-प्रधान भाषायें, 4. अश्लिष्ट या समास-प्रधान भाषायें।

विद्वानों ने उक्त भेदों के भी अनेक उपभेद किये हैं, जैसे–अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी विभक्तियों के आधार पर श्लिष्ट योगात्मक के उपभेद,अन्तर्मुखी श्लिष्ट योगात्मक तथा बहिर्मुखी श्लिष्ट योगात्मक आदि।

इस सन्दर्भ में यह उल्लेख करना समीचीन है कि संस्कृत-भाषा श्लिष्ट योगात्मक है।

यहाँ यह भी ज्ञेय है कि डॉ0 श्यामसुन्दर दास जैसे विद्वानों ने आकृति-मूलक वर्गीकरण का समर्थन किया है, परन्तु अनेक विद्वानों ने इस वर्गीकरण की आलोचना की है।

2. पारिवारिक या ऐतिहासिक वर्गीकरण–'अर्थतत्त्व' तथा 'रूपतत्त्व' (सम्बन्ध-तत्त्व) की समानता के आधार पर किया गया भाषाओं का वर्गीकरण 'पारिवारिक वर्गीकरण' कहलाता है। वस्तुत; रचनातत्त्व और अर्थतत्त्व इन दोनों के सम्मिलित आधार पर यह वर्गीकरण किया जाता है। इस वर्गीकरण के आधार पर उन सभी भाषाओं को एक भाषा-परिवार में परिगणित किया जाता है, जो किसी एक ही मूल भाषा से विकसित हुयी हैं। जैसे–मूलभारोपीय भाषा से विकसित भारत तथा यूरोप की सभी भाषायें 'भारोपीय' भाषा-परिवार में गृहीत की जाती हैं।

यहाँ यह अवश्य विचारणीय है कि इस वर्गीकरण में ''भाषा-परिवार'' इस समस्त पद में 'परिवार' शब्द का प्रयोग औपचारिक है। इस सन्दर्भ में प्रसिद्ध भाषाविद् डॉ0

मङ्गलदेव शास्त्री का कहना है—"भाषा-परिवार शब्द में 'परिवार' शब्द का प्रयोग औपचारिक है। इस शब्द के प्रयोग से यह आशय है कि किसी भी भाषा-परिवार से सम्बन्ध रखने वाली सारी भाषायें किसी एक ही भाषा से निकली हैं अर्थात् उनका सबका मूल-स्रोत एक ही भाषा थी।" (भाषा-विज्ञान परिच्छेद 9, पृ0 204)।

इस विषय में डॉ0 शास्त्री ने वर्गीकरण के आधार के रूप में ऐतिहासिक प्रमाण की भी चर्चा की है। भाषा-विज्ञान नामक ग्रन्थ में उनका कहना है—"कुछ भिन्न-भिन्न भाषाओं के विषय में तो ऐतिहासिक प्रमाण इस बात का मिल सकता है कि वे एक ही भाषा से निकली हैं। उदाहरणार्थ, यह इतिहास से सिद्ध है कि यूरोप की फ्रेंच, स्पैनिश, इटैलियन, रूमानियन और कुछ अन्य प्रादेशिक भाषायें, सब की सब, लैटिन भाषा से, अर्थात् बहुत अंश तक तो लैटिन भाषा के उस अपरिष्कृत रूप से, जो रोमन-सेनाओं में पाया जाता था और कुछ अंश तक पुस्तकों की परिष्कृत लैटिन से पीछे से उद्धृत शब्दों से, बनी हैं।" (वही पृ0 204)।

आकृतिमूलक और पारिवारिक वर्गीकरण में अन्तर–दोनों वर्गीकरणों में मुख्य अन्तर यह है कि आकृतिमूलक वर्गीकरण में मुख्यतः आकृति अथवा रचनातत्त्व को मुख्य आधार बनाया जाता है। उसमें शब्द तथा वाक्य कैसे बनते हैं, इसके आधार पर ही आकृतिमूलक वर्गीकरण को किया जाता है। उसमें अर्थतत्त्व मुख्य आधार नहीं बनता।

इसके विपरीत पारिवारिक वर्गीकरण में रचना तत्त्व के साथ ही अर्थतत्त्व को भी आधार बनाया जाता है अर्थात् उसका ध्यान रखा जाता है। सारांशतः यह कह सकते हैं कि पारिवारिक वर्गीकरण में अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व दोनों को दृष्टिगत किया जाता है।

भाषा-परिवार की संख्या–विश्व के भाषा-परिवारों की संख्या के विषय में निःसंदिग्ध रूप से कुछ कहना कठिन है क्योंकि इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। जर्मन विद्वान् चिल्हेल्म फॉन हुम्बोल्ट ने इनकी संख्या 13 मानी है। फ्रीडरिश म्यूलर आदि विद्वान् उनकी संख्या लगभग 100 मानते हैं। कुछ विद्वान् ऐसे भी हैं जिनकी परिवार-संख्या 250 तक पहुँच जाती है। भारतीय विद्वन् मण्डली 10 से 18 तक मानती है। डॉ0 देवेन्द्र नाथ शर्मा ने उन 18 भाषा-परिवारों का उल्लेख किया है जो अपेक्षाकृत निर्विवाद और मुख्य हैं। उनके अनुसार वे (18 भाषा-परिवार) अधोलिखित हैं—

1. भारोपीय (भारत-यूरोपीय),	2. द्राविड़,	3. बुरुशस्की,
4. उराल-अल्ताई,	5. कॉकेशी	6. चीनी
7. जापानी कोरियाई	8. अत्युत्तरी (हाइपरबोरी)	9. बास्क
10. सामी-हामी	11. सुडानी	12. बन्तू (बान्टू)

13. होतेन्तोत-बुशमैनी 14. मलय-बहुद्वीपीय 15. पापुई
16. आस्ट्रेलियाई 17. दक्षिण-पूर्व एशियाई 18. अमरीकी (परिवार)

परिवारिक (ऐतिहासिक) वर्गीकरण के आधार–भाषा-वैज्ञानिकों ने पारिवारिक वर्गीकरण के आधार के विषय में भी विचार किया है। तदानुसार उक्त वर्गीकरण के अधोलिखित चार आधार हो सकते हैं—1. स्थान-सामीप्य (स्थान या क्षेत्र की समीपता), 2. शब्द-साम्य (शब्दावली की समानता, शब्द-अर्थ की समानता), 3. व्याकरण-साम्य (पद-रचना और वाक्य-रचना में समानता), 4. ध्वनि-साम्य (भाषा में प्रयुक्त ध्वनियों में समानता)।

1. स्थान-सामीप्य–यद्यपि सामान्यतः एक परिवार की भाषायें स्थानीय दृष्टि में समीप होती हैं, परन्तु ऐसा भी होता है कि कुछ भाषायें दूरस्थ होने पर भी एक परिवार में आती हैं। जैसे—अवेस्ता, जर्मन, फ्रेन्च तथा अंग्रेजी दूरस्थ होकर भी भारोपीय परिवार में संस्कृत एवं हिन्दी के साथ परिगणित होती हैं। इसके विपरीत अरबी-फारसी, मराठी तेलगू, मराठी, कन्नड़ आदि भाषायें स्थान-समीपता के बावजूद विभिन्न परिवारों से सम्बद्ध है। वस्तुतः स्थान-सामीप्य निर्णायक तत्त्व नहीं है।

2. शब्द-साम्य–इसमें विविध भाषाओं में शब्दावली अथवा शब्द-कोश की समानता को आधार बनाया जाता है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि शब्द-साम्य में केवल शब्द की आकृति ही नहीं देखी जाती अपितु उसका अर्थ भी दृष्टिगत किया जाता है। इतना अवश्य है दोनों (शब्द की आकृति तथा उसके अर्थ) में समानता होने पर पारिवारिक एकता की सम्भावना दृढ़ होती है।

3. व्याकरण-साम्य–व्याकरण-साम्य में मुख्यतः पद-रचना तथा वाक्य-रचना की समानता अपेक्षित होती है। यह सर्वाधिक दृढ़ और प्रामाणिक आधार है। यदि किन्हीं दो भाषाओं में शब्द-निष्पत्ति तथा वाक्य-निष्पत्ति (निर्माण) एवं सम्बन्ध-तत्त्वों की समानता है तो उन्हें एक ही परिवार की भाषा माना जायेगा। व्याकरण-साम्य में विवेचनीय भाषाओं की क्रियाओं और सर्वनामों पर विशेष ध्यान देना चाहिये।

4. ध्वनि-साम्य–भाषाओं में प्रयुक्त होने वाली ध्वनियों में समानता होने पर उन्हें एक परिवार के अन्तर्गत रखा जाता है। ध्वनियों में विकास-क्रम के अनुसार परिवर्तन होने के कारण इस आधार को पूर्णतः निर्णायक नहीं माना जा सकता। ध्वनियों में परिवर्तन के लिये संस्कृत के ऋ, ऐ, ओ, व आदि को लिया जा सकता है। जिनका मूलरूप में उच्चारण आज नहीं होता। संस्कृत में टवर्ग ध्वनि है पर अन्य भारोपीय भाषाओं में नहीं है। संस्कृत में ड, ढ ध्वनियाँ नहीं है पर संस्कृत से विकसित हिन्दी भाषा में वे ध्वनियाँ

है विदेशी शब्दों के साथ विदेशी ध्वनियाँ भी जा जाती है जैसे—क़, ख़,ग़,ज़ आदि।

पारिवारिक वर्गीकरण की न्यूनता–अभी तक वर्गीकरण के दृढ़ आधार पर न होने के कारण भाषा-परिवारों की संख्या का निःसंदिग्ध निर्धारण नहीं हो सका। संसार की सभी भाषाओं का अभी तक सर्वाङ्गपूर्ण अध्ययन भी नहीं हो सका है।

पारिवारिक वर्गीकरण की उपयोगिता–यद्यपि पारिवारिक वर्गीकरण निःसन्दिग्ध रूप से समझ में नहीं आ पाता, क्योंकि भाषा-परिवारों के विषय में सन्देह बना रहता है। फिर भी पारिवारिक वर्गीकरण की उपयोगिता असन्दिग्ध है। इस सन्दर्भ में निम्नलिखित तथ्यों को दृष्टिगत करना आवश्यक है—

1. तुलनात्मक अध्ययन–इस वर्गीकरण में एक परिवार से सम्बद्ध भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन हो जाता है तथा उनकी समान एवं विषम विशेषताओं से हमारा परिचय हो जाता है। **2. विश्वभाषाओं का संक्षिप्त ज्ञान**–सम्बद्ध भाषाओं की मूल भाषा के विषय में भी हमें ज्ञान हो जाता है। भाषा-वैज्ञानिकों ने भारोपीय परिवार की विशेषताओं के आधार पर मूल भारोपीय भाषा को भी जानने का प्रयास किया है। **3. सांस्कृतिक एकता**–पारिवारिक वर्गीकरण के द्वारा संसार में दूर-दूर तक बसने वाली जातियों की सांस्कृतिक एकता सिद्ध हुयी है। क्योंकि उन जातियों की भाषा में समानता है। इस प्रकार पारिवारिक वर्गीकरण के द्वारा अनेक जातियों के लुप्त इतिहास का भी ज्ञान हो जाता है। **4. विश्वबन्धुत्व की भाषा**–विश्व के प्रत्येक भाषा-परिवार का अन्य भाषा-परिवारों से प्रत्यक्ष या परोक्ष सम्पर्क रहा है। इससे अनेकता में भी एकता की अनुभूति का होना स्वाभाविक है। यही एकता की अनुभूति विश्व-बन्धुत्व-भावना की जन्मदात्री है। यही एक ऐसा कारण है कि भाषा शास्त्री सङ्कीर्णता, अनुदारता आदि दोषो से प्रायः मुक्त रहते हैं।

चार भाषा-भूखण्ड

भाषाविदों ने अब तक उपलब्ध भाषाओं को अध्ययन की सुविधा के लिये, भौगोलिक आधार पर चार भौगोलिक खण्डों में विभक्त किया है। वे चार भूखण्ड तथा उनमें परिगणित-भाषा-परिवार अधोलिखित हैं—

1. यूरेशिया-भूखण्ड, 2. अफ्रीका-भूखण्ड, 3. प्रशान्त महासागरीय भूखण्ड, 4. अमेरिका-भूखण्ड।

इन चारों भूखण्डों में आने वाली भाषाओं के परिवारों का विवरण निम्नाङ्कित है—

1. यूरेशिया (यूरोप-एशिया) भूखण्ड

(1) भारोपीय (भारत-यूरोपीय) परिवार (Indo-European Family)

(2) द्राविड़ परिवार (Dravidian Family)

(3) बुरुशस्की परिवार (Burushaski Family)

(4) काकेशी परिवार (Caucasian Family)

(5) यूराल-अल्ताई परिवार (Ural-Altai Family)

(6) चीनी परिवार (Chinese Family)

(7) जापानी-कोरियाई परिवार (Japanese-Korean Family)

(8) अत्युत्तरी (हाइपरबोरी) परिवार (Hyperborean Family)

(9) बास्क-परिवार (Basqu-Family)

(10) सामी-हामी परिवार (Semitic-Hamitic Family)

(यह अफ्रीका महाद्वीप में भी आता है)

2. अफ्रीका-भूखण्ड

(11) सूडानी परिवार (Sudan-Family)

(12) बान्तू-परिवार (Bantu-Family)

(13) होतेन्तोत-बुशमैनी परिवार (Hottentot-Bushman Family)

3. प्रशान्तमहासागरीय भूखण्ड

(14) मलय-पोलिनेशियाई परिवार (Malay-Polynasian Family)

(15) पापुई परिवार (Papuan Family)

(16) आस्ट्रेलियन परिवार (Australian Family)

(17) दक्षिण-पूर्व एशियाई परिवार (Austro-Asiatic Family)

4. अमेरिका-भूखण्ड

(18) अमेरिकी परिवार (American Family)

आगे उपर्युक्त भाषा-भूखण्डों में से अफ्रीका भूखण्ड, प्रशान्तमहासागरीय भूखण्ड, अमेरिका भूखण्ड तथा यूरेशिया भूखण्ड के भाषा-परिवारो की भाषाओं का क्रमशः विवेचन (वर्णन) किया जा रहा है—

अफ्रीका-भूखण्ड

इस भूखण्ड में परिगणित भाषा-परिवार ये हैं—

1. सूडानी भाषा-परिवार, 2. बान्टू (बन्तू) परिवार, 3. होतेन्तोत बुशमैनी परिवार।

1. सूडानी भाषा-परिवार–इस परिवार की भाषायें भूमध्य रेखा के उत्तर में पश्चिमी सिरे से लेकर पूर्वी सिरे तक फैली है, अर्थात् बोली जाती है। सूडानी परिवार की सबसे प्रमुख भाषा 'हाउसा' है जो नाइजीरिया की भाषा है। इस परिवार-क्षेत्र के उत्तर में 'सामी-हामी' परिवार है तथा दक्षिण में बान्टू-परिवार है। इस परिवार की भाषाओं की संख्या 400 से ऊपर है। भाषायें मुख्य रूप से अयोगात्मक हैं।

विशेषतायें–इस परिवार की भाषायें एकाक्षरी तथा अयोगात्मक हैं। इनमें व्याकरण नहीं पाया जाता तथा लिङ्ग, बहुवचन आदि बनाने के नियम नहीं हैं। इस परिवार की भाषाओं में सरसता पायी जाती है। भाषायें ध्वन्यात्मक होती हैं। इस भाषा-परिवार को अधोलिखित चार वर्गों में बाँटा जाता है—

1. सेनेगल भाषायें, 2. ईव भाषायें, 3. मध्यवर्ती भाषायें, 4. नील नदी के उत्तरी भाग की भाषायें।

2. बान्टू भाषा-परिवार (बन्तू-परिवार)–इस परिवार की भाषायें मध्य तथा दक्षिणी अफ्रीका में पूर्व से पश्चिम क्षेत्र में बोली जाती हैं। इस परिवार में लगभग 150 भाषायें हैं जो पूर्वी, मध्यवर्ती एवं पश्चिमी क्षेत्र की भाषायें कही जा सकती हैं। इस परिवार की सबसे मुख्य भाषा 'स्वाहिली' है जिसका मुख्य क्षेत्र जंजीवार है।

विशेषतायें–बान्टू भाषायें अश्लिष्ट पूर्व योगात्मक हैं। इस परिवार की भाषाओं में व्याकरण-सम्बन्धी लिङ्ग-भेद नहीं पाया जाता तथा कारक-चिह्नों का प्रयोग नहीं मिलता है। स्वरों के अन्तर से अर्थान्तर हो जाता है। भाषाओं में पदों का निर्माण उपसर्ग लगाकर किया जाता है। दक्षिण-पूर्व की भाषाओं में 'क्लिक' ध्वनियों का प्रयोग होता है। बन्तू भाषाओं के लोकगीत और लोककथायें रोमन-लिपि में प्रकाशित हुयी हैं।

3. होतेन्तोत बुशमैनी परिवार–अफ्रीका-भूखण्ड की भाषाओं में इस परिवार की भाषायें प्राचीनतम हैं। इसका क्षेत्र दक्षिणी-पश्चिमी अफ्रीका में ओरेंज नदी से नगामी झील तक है होतेन्तोत, दयारा, सन्दवो, ऐकवे तथा औकेवे इस परिवार की प्रमुख भाषायें हैं। इस परिवार की भाषा में लिङ्ग-विधान सजीव एवं निर्जीव वस्तुओं के आधार पर निश्चित किया जाता है। पुरुष-लिङ्ग, स्त्री-लिङ्ग बुशमैन लोगों के आधार पर नहीं। इस परिवार में कई बोलियाँ विकसित हो गयी हैं। इस परिवार की भाषायें संयोगात्मक से अयोगात्मक हो रही हैं।

विशेषतायें–1. इस परिवार की ध्वनियाँ विचित्र हैं जो 'क्लिक' या 'अन्तःस्फोटात्मक'

कही जाती हैं। इसके पाँच भेद हैं। 2. इसमें बहुवचन बनाने के अनेक (लगभग 50) नियम हैं। कभी-कभी संज्ञा एकवचन की पुनरुक्ति कर बहुवचन बना लिया जाता है। 3. इस परिवार की प्रमुख भाषा 'होतेन्तोत' है। इसमें तीन वचन होते हैं।

विशेष–सेमेटिक-हैमेटिक (सामी-हामी) भाषा-परिवार को भाषाविदों ने यूरेशिया-भूखण्ड के अन्तर्गत भी परिगणित किया है। इन दोनों का संक्षिप्त विवरण यूरेशिया-भूखण्ड के अन्तर्गत दिया गया है।

प्रशान्तमहासागर-भूखण्ड

1. मलय-पोलिनेशियाई परिवार–इस भाषा-परिवार का क्षेत्र पश्चिम में अफ्रीका के मेडागास्कर द्वीप से लेकर पूर्व में ईस्टर द्वीप तक तथा उत्तर में फारमोसा से लेकर दक्षिण में न्यूजीलैण्ड तक फैला है। इसमें सुमात्रा, जावा, बोर्नियो आदि द्वीप-समूह हैं। इस परिवार की प्रमुख भाषायें हैं—

1. इण्डोनशियाई (हिन्द-द्वीपीय या मलायन)–यह मलय, जावी, दमक आदि में बोली जाती है। 2. मेलानेशियाई (कृष्ण-द्वीपीय)–यह फिजी द्वीप में है। 3. निकोनेशियाई (लघु-द्वीपीय)–यह कैरोलिन, मार्शल आदि द्वीपों में है। 4. पोलिनेशियाई (बहु-द्वीपीय)–इस परिवार को मलय बहुद्वीप के आधार पर मलय-बहुद्वीपीय या मलय-पोलिनेशियन और दक्षिण द्वीप-समूह के आधार पर आस्ट्रोनेशियन भी कहते हैं। इसमें समस्त पूर्वी और दक्षिणी द्वीप आ जाते हैं।

जावा, सुमात्रा आदि कभी भारत के उपनिवेश थे। फलस्वरूप वहाँ संस्कृत का वर्चस्व था। यहाँ की भाषा का नाम कवि (कवियों या विद्वानों की भाषा) था। इसमें ८०० ई0 तक का प्राचीन साहित्य मिलता है। यहाँ के साहित्य और संस्कृति पर मुख्यतः रामायण का प्रभाव है। यहाँ की भाषाओं में अरबी और संस्कृत दोनों के शब्द मिलते हैं। पन्द्रहवीं शताब्दी तक यहाँ संस्कृत का विशेष प्रचार था। कम्बोज (कम्बोडिया) में तन्त्र-विद्या और संस्कृत का अध्ययन होता था।

विशेषतायें–1. प्रायः सभी भाषायें अश्लिष्ट योगात्मक हैं। 2. अब वे संयोगात्मक से वियोगात्मक हो गयी हैं। 3. धातुयें प्रायः दो अक्षरों वाली हैं। 4. संज्ञाओं के लिङ्ग, विभक्ति और वचन नहीं हैं। 5. बहुवचन का काम द्विरुक्ति से लिया जाता है।

2. पापुई-परिवार–इस भाषा-क्षेत्र का परिवार है–मलाया तथा पोलनेशिया का मध्यवर्ती, न्यूगिनी, सोलोमन द्वीप-समूह आदि। न्यूगिनी की 'मफोर' भाषा इसकी प्रमुख भाषा है।

विशेषतायें–1. इस परिवार की भाषायें अश्लिष्ट योगात्मक हैं। 2. पूर्वप्रत्यय-संयोग अथवा परप्रत्यय-संयोग।

1. पद-रचना, उपसर्ग और प्रत्यय के योग से होती है, जैसे–न्यूगिनी की मफोर भाषा में म्नफ़ (सुनना) धातु से पहले 'ज' जोड़ देने पर 'ज-म्नफ' बनता है, जिसका अर्थ होता है 'मैं सुनता हूँ' और 'म्नफ़' के पूर्व 'ज' जोड़ने पर 'ज म्नफ़' बनता है, जिसका अर्थ होता है 'तू सुनता है'। इसी प्रकार 'इ-म्नफ़' (वह सुनता है), 'सी-म्नफ़' (वे सुनते हैं) इत्यादि वाक्य बनते हैं।

3. आस्ट्रेलियन परिवार–इस परिवार की भाषायें सम्पूर्ण आस्ट्रेलिया तथा तस्मानिया में बोली जाती हैं। इसके बोलने वाले प्रायः आदिवासी (मूल निवासी) हैं। इस परिवार में लगभग 100 भाषायें सम्मिलित हैं। यूरोपीय उपनिवेश के कारण ये भाषायें नष्टप्राय हैं। अब इनके बोलने वालों की संख्या अति स्वल्प है।

विशेषतायें–1. इसकी भाषायें अश्लिष्ट योगात्मक हैं। 2. प्रत्यय अन्त में जोड़े जाते हैं। संख्यावाचक शब्द एक, दो, तीन हैं, इन्हीं के संयोग से बड़ी संख्यायें बनती हैं। उत्तम पुरुष में द्विवचन तथा बहुवचन होता है। 3. इन भाषाओं के क्रिया-रूपों में जटिलता है। इसके वर्तमान, भूत, भविष्य अनेक भेद होते हैं।

4. दक्षिण-पूर्व एशियाई (आस्ट्रो-एशियाटिक) परिवार–इस भाषा-परिवार के क्षेत्र पश्चिम में भारत का उत्तरी पहाड़ी भाग, मध्यप्रदेश तथा उड़ीसा का कुछ भाग है। पूर्व में अन्नास, श्याम तथा कम्बोडिया का भू-भाग है तथा दक्षिण में निकोबार द्वीप है।

इस परिवार की प्रमुख विशेषतायें चार हैं—1. पश्चिम में मुण्डा है। 2. मध्य में मोन-रूमेर है। 3. पूर्व में अनामी मुआङ है। 4. दक्षिण में निकोबार है।

मुण्डा भाषाओं का प्रभाव भोजपुरी, मगही, मैथिली आदि पर पड़ा है।

विशेषतायें–1. मुण्डा भाषा ध्वनि की दृष्टि से समृद्ध है। 2. शब्द के आदि में संयुक्त व्यञ्जन नहीं लगता है। 3. इन भाषाओं में बलाघात है। 4. इन भाषाओं में संज्ञा, क्रिया आदि शब्द-विभाग नहीं हैं। 5. एक ही शब्द प्रकरण और आवश्यकता के अनुरूप संज्ञा, क्रिया, विशेषण आदि बन जाता है। 6. सम्बन्ध-तत्त्व मध्य तथा अन्त में लगते हैं। 7. इसमें तीन वचन हैं। 8. इसमें पुरुष के अनुसार क्रिया में भेद नहीं होता है। 9. गणना विंशतिक प्रणाली से होती है।

अमेरिका-भूखण्ड

अमेरिकी परिवार–इस भाषा-परिवार के अन्तर्गत लगभग 1000 भाषायें बतायी जाती हैं। इनके बोलने वाले आदिवासी (मूल निवासी) कहे जाते हैं। अभी इन भाषाओं का सम्यक् अध्ययन नहीं हो पाया है। भाषा-बहुलता का कारण यह है कि थोड़ी-थोड़ी दूरी पर भाषाओं का परिवर्तन हो जाता है। अनेक भाषायें लुप्त हो चुकी हैं और कुछ लुप्तप्राय हैं। इन भाषाओं के परिवार के लिये 'अमेरिका-परिवार' यह नाम विशुद्ध रूप

से भौगोलिक है। इस परिवार की भाषाओं के वर्गीकरण के लिये भौगोलिक दृष्टि से तीन विभाग माने जाते हैं। जिनकी भाषाओं का संक्षिप्त विवरण निम्नाङ्कित हैं—

1. कनाडा तथा संयुक्त राज्य, 2. मैक्सिको एवं मध्य अमेरिका, 3. दक्षिणी अमेरिका।

1. कनाडा एवं संयुक्त राज्य–इसमें 'अथवस्की'; 'अलगोनकी'; 'होका'; 'यूरोकवा' तथा 'सिउई' भाषायें आती हैं। **2. मैक्सिको एवं मध्य अमेरिका**–इसमें 'अज्तेक'; 'मय'; 'नहुअत्ल' आदि भाषायें परिगणित हैं। **3. दक्षिणी अमेरिका**–इसमें 'अखक'; 'चिबोचा'; 'तुपी-गुअर्नी'; 'करीब'; 'कइचुआ' आदि भाषायें आती हैं।

विशेषतायें–इस परिवार की भाषाओं की संख्या बहुत बड़ी है और उनका यथेष्ट अध्ययन भी नहीं हुआ है, अतः उनकी विशेषताओं के विषय में विस्तृत रूप से कुछ बताना कठिन है। 1. सम्मिलित रूप से भाषाओं की विशेषता को बताया जा सकता है कि भाषायें प्रश्लिष्ट योगात्मक हैं। 2. इन भाषाओं में स्वतन्त्र शब्दों का प्रयोग नगण्य है। 3. इस परिवार की भाषायें वाक्यात्मक हैं। इनमें पूर्ण वाक्य के लिये एक शब्द का प्रयोग होता है, जिसमें सभी शब्दों का कुछ-कुछ अंश ले लिया जाता है, जैसे–'हमको डोंगी लाओ' इस वाक्य के लिये एक शब्द का प्रयोग होता है–'नाधोलिन्नि'। इसमें 'नातेन्' का अर्थ है–'लाओ', 'अमोलोल' का अर्थ है–'नाव-डोंगी' और 'मिन्' का अर्थ है–'हमको'।

विशेष–दक्षिणी अमेरिका की एक विशेषता यह है कि वहाँ की स्त्रियाँ 'अरबक भाषा' बोलती हैं और पुरुष 'करीब भाषा' बोलते हैं। इसका कारण यह है कि 'करीब' जाति ने 'अरबक' जाति पर विजय प्राप्त कर 'अरबक' भाषी पुरुषों को मार डाला था और स्त्रियों को रख लिया।

यूरेशिया (यूरोपेशिया)-भूखण्ड

यूरेशिया खण्ड–इस खण्ड का भौगोलिक क्षेत्र बहुत विशाल है और इस खण्ड की भाषायें नितान्त महत्त्वपूर्ण हैं। इस खण्ड की भाषाओं में संसार की प्रसिद्ध सभ्यतायें एवं प्राचीन साहित्य विद्यमान हैं। इस खण्ड की भाषाओं का विशेष रूप से अध्ययन भी किया गया है। इस खण्ड की भाषायें सम्पूर्ण यूरोप, दक्षिण-पश्चिम एशिया, ईरान, अफगानिस्तान तथा उत्तरी भारत में विस्तृत हैं। उक्त क्षेत्रों के अतिरिक्त इस खण्ड की भाषायें उत्तरी अमेरिका महाद्वीप (कनाडा), संयुक्त राज्य अमेरिका आदि, दक्षिणी अमेरिका के देशों तथा अफ्रीका के कुछ क्षेत्रों में बोली जाती हैं। आस्ट्रेलिया महाद्वीप (न्यूजीलैण्ड) आदि देशों में भी इस खण्ड की प्रधान भाषा 'अंग्रेजी' प्रचलित है। अन्य भाषा-खण्डों की अपेक्षा इस खण्ड की भाषाओं को बोलने वालों की संख्या अत्यन्त अधिक है। पहले इस खण्ड की भाषायें विभक्ति-प्रधान संयोजात्मक थीं, परन्तु आधुनिक काल में उनकी (भाषाओं की) प्रवृत्ति वियोगात्मक हो रही हैं।

इस भाषा-भूखण्ड के दस भाषा-परिवार ये हैं—(1) भारोपीय (भारत-यूरोपीय) परिवार, (2) द्राविड़ परिवार, (3) बुरुशस्की परिवार, (4) काकेशी परिवार, (5) यूराल-अल्ताई परिवार, (6) चीनी परिवार, (7) जापानी-कोरियाई परिवार, (8) अत्युत्तरी (हाइपरबोरी) परिवार, (9) बास्क परिवार, (10) सामी-हामी परिवार।

1. भारोपीय (भारत-यूरोपीय) परिवार–इस भाषा-परिवार का विस्तृत विवरण इस भूखण्ड के सामी-हामी परिवार के बाद दिया गया है।

2. द्रविड़ भाषा-परिवार–इस भाषा-परिवार की भाषायें भारत में नर्मदा तथा गोदावरी नदियों से लेकर दक्षिण में कुमारी अन्तरीप तक फैली हैं। इस परिवार की भाषायें उत्तरी लङ्का, बिलोचिस्तान, मध्य-प्रदेश, बिहार आदि क्षेत्रों में जन-प्रयोग में आती हैं। इस परिवार की भाषाओं और बोलियों की संख्या चौदह मानी जाती है। इन्हें चार उपभागों में बाँटा गया है—

(1) द्रविड़-वर्ग, (2) आन्ध्र-वर्ग, (3) मध्यवर्ती वर्ग तथा (4) ब्राहुई-वर्ग। इस परिवार की भाषायें कन्नड़, तमिल, तेलगू, मलयालम आदि हैं। इनमें तमिल सबसे अधिक सम्पन्न तथा प्राचीनतम भाषा है। यह तमिलनाडु एवं उत्तरी लङ्का में बोली जाती है। आन्ध्र में तेलगू, मैसूर में कन्नड़, केरल में मलयालम भाषायें बोली जाती हैं। ये भाषायें उन्नत-साहित्य-सम्पन्न हैं। तमिल-भाषा की श्रेष्ठता के कारण इस परिवार को 'तमिल-भाषा-परिवार' नाम भी दिया जाता है। द्रविड़-भाषाओं का प्रभाव भारतीय आर्य-भाषाओं पर भी पड़ा है। विशेषतः मूर्धन्य ध्वनियों के क्षेत्र में इस भाषा-परिवार में शब्द-निर्माण के लिये प्रत्यय आदि अन्त में जोड़े जाते हैं। इस परिवार की धातुयें दो अक्षर की होती हैं।

प्रमुख विशेषतायें–(1) इस परिवार की भाषायें अश्लिष्ट-अन्त-योगात्मक हैं। (2) मूल शब्द के साथ प्रत्यय जोड़ने पर शब्द में परिवर्तन नहीं होता है। (3) इस भाषा-परिवार में मूर्धन्य ध्वनियों (जैसे–ट वर्ग) की अधिकता है। इसमें स्वर-अनुरूपता अधिक पायी जाती है। (4) कभी-कभी संज्ञा-शब्द क्रिया का भी अर्थ प्रकट करते हैं। (5) इन भाषाओं में तीन लिङ्ग (पुल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग तथा नपुंसक लिङ्ग) तथा दो वचन (एकवचन एवं बहुवचन) पाये जाते हैं। इन भाषाओं की क्रिया में त्रिदन्त से अधिक कृदन्त रूपों का प्रयोग होता है।

3. बुरुशस्की (खजुना) परिवार–इसका क्षेत्र भारत का उत्तर-पश्चिम छोर है। कुड विद्वान् इस परिवार को द्रविड़-परिवार से सम्बन्धित मानते हैं। वस्तुतः इस भाषा-परिवार का क्षेत्र भारत-ईरानी, तुर्की और तिब्बती-परिवारों से घिरा हुआ है। यह भाषा-परिवार अन्य किसी भाषा-परिवार में परिगणित नहीं होता। यह भाषा-परिवार प्राचीनकाल में महत्त्वपूर्ण था, किन्तु आज इसका महत्त्व कम हो गया है।

स्वरूप और विशेषतायें–यह सर्वनाम-प्रधान भाषा है। इस परिवार की विशेषता यह है कि इसमें सामान्य पुरुषों-स्त्रियों तथा समकक्ष व्यक्तियों के लिये पृथक्-पृथक् सम्बोधन है। अण्डमान की अण्डमनी भाषा का भी एक स्वतन्त्र परिवार माना जाता है।

4. काकेशी भाषा-परिवार–इस भाषा-परिवार का क्षेत्र काला सागर तथा कैस्पियन सागर के बीच काकेशस पर्वत है। इस परिवार को दो भागों में बाँटा जाता है—प्रथम–उत्तरी काकेशी क्षेत्र, द्वितीय–दक्षिणी काकेशी क्षेत्र। काकेशस पर्वत के उत्तरी ढाल पर उत्तरी काकेशी भाषा बोली जाती है, जबकि दक्षिणी ढाल पर दक्षिणी काकेशी भाषा बोली जाती है। इनमें परस्पर भिन्नता पायी जाती है। ये भाषायें प्रत्यय-संयोगी मानी जाती हैं। प्रत्ययों में पुरःप्रत्यय और पर-प्रत्यय दोनों मिलते हैं।

विशेषतायें–(1) इस परिवार की भाषायें विभक्ति-प्रधान न होकर अश्लिष्ट योगात्मक हैं, जिनमें प्रत्यय तथा उपसर्ग पाये जाते हैं। (2) इस परिवार की भाषाओं की पद-रचना अत्यन्त जटिल होती है। इस परिवार की कुछ बोलियों की सज्ञा में तीस विभक्तियाँ तक पायी जाती हैं। (3) पद-निष्पत्ति के लिये उपसर्ग तथा प्रत्यय दोनों का प्रयोग किया जाता है। (4) काकेशी की उत्तरी शाखा में व्यञ्जन-बाहुल्य तथा स्वर-स्वल्पता है। (5) इस परिवार की भाषाओं में क्रियाओं का रूप बहुत जटिल होता है। मूल धातु का पता लगाना दुष्कर होता है। (6) इस भाषा-परिवार की मुख्य भाषा 'जार्जियन' है। उसकी अपनी लिपि है, किन्तु अन्य भाषाओं की न लिपियाँ हैं और न साहित्य ही।

5. यूराल-अल्टाई भाषा-परिवार–इस भाषा-परिवार की भाषायें यूराल और अल्टाई पर्वतों के बीच तुर्की, हंगरी, फिनलैण्ड से लेकर पूर्व में ओखस्टक सागर तक तथा भूमध्य सागर से उत्तर में उत्तरी सागर तक फैली हैं। क्षेत्र के दृष्टिकोण से भारोपीय परिवार के अतिरिक्त अन्य सभी भाषा-परिवारों से विशाल है। इस भाषा-परिवार को दो भागों में विभक्त किया जाता है—(1) यूराल परिवार (वर्ग), (2) अल्टाई परिवार (वर्ग)। इनमें प्रथम यूराल परिवार के अन्तर्गत फीनी-उग्री तथा समोयेदी एवं द्वितीय अल्टाई परिवार के अन्तर्गत तुर्की, मंगोली तथा तुँगूजी भाषायें आती हैं। ध्वनियों आदि की दृष्टि से ये परिवार भिन्न परिवार लगते हैं। व्याकरण की दृष्टि से थोड़ी भिन्नता पायी जाती है।

विशेषतायें–(1) इस परिवार (यूराल-अल्टाई) की भाषायें अश्लिष्ट-योगात्मक हैं। धातुओं में प्रत्ययों को संयुक्त कर शब्द-निर्माण होता है। (2) इसमें शब्दों के साथ सम्बन्धवाचक प्रत्यय जोड़ा जाता है तथा स्वर में अनुरूपता अधिक पायी जाती है। (3) फिनिश भाषा इस परिवार की प्राचीनतम भाषा है, जिसमें प्राचीन साहित्य मिलता है। इसके अतिरिक्त फिनिश, भगियार (हंगरी की भाषा) तथा तुर्की-भाषायें उन्नत भाषायें हैं।

विशेष–भाषाओं की अधिकता के कारण विद्वान् लोग इसे एक भाषा-परिवार की अपेक्षा एक भाषा-समुदाय मानते हैं।

6. चीनी (एकाक्षर) भाषा-परिवार–इस परिवार की भाषायें पूर्वी तथा द० पू० एशिया के क्षेत्रों में, जैसे–चीन, थाईलैण्ड, तिब्बत, ब्रह्मा आदि क्षेत्रों में बोली जाती हैं। इस परिवार की मुख्य भाषा 'चीनी' है, अतः इसे 'चीनी भाषा-परिवार' भी कहते हैं। भारोपीय परिवार के बाद सबसे अधिक बोलने वाले लोग चीनी भाषा-परिवार के हैं। इस परिवार की भाषायें एकाक्षरात्मक अयोगात्मक हैं। इस परिवार को तीन प्रमुख भागों में विभक्त किया जाता है—(1) चीनी-परिवार, (2) थाई-चीनी-परिवार एवं (3) तिब्बती-बर्मी-परिवार।

(1) चीनी-परिवार–चीनी भाषा सम्पूर्ण चीन देश में व्यवहृत होती है। स्थान-भेद से इसकी कई बोलियाँ हैं। इनमें उत्तरी चीन की प्रमुख बोली पेकिंग के आस-पास बोली जाने वाली बोली है। इसे चीन की राजभाषा 'मन्दारिन' (Mandarin) के रूप में स्वीकार किया गया है। दक्षिणी भाषाओं में 'केन्टन' की बोली प्रमुख है।

विशेषतायें–चीनी (एकाक्षर) परिवार की प्रमुख विशेषतायें इस प्रकार हैं—(1) इस परिवार की भाषायें अयोगात्मक (स्थान-प्रधान) हैं। शब्द के स्थान से सम्बन्ध का ज्ञान होता है। (2) अर्थ की स्पष्टता हेतु कभी-कभी शब्द-युग्म का प्रयोग आवश्यक होता है। (3) हर शब्द एकाक्षरी होता है। उसके रूप में कोई विकार नहीं आता, अतः उसका रूप अव्यय की तरह होता है। (4) अर्थ-भेद के लिये स्वर एवं व्यञ्जन का प्रयोग होता है। 'फूकिन' बोली में आठ तरह के सुर-भेद हैं तथा राजभाषा 'मन्दारिन' में छः प्रकार के सुर पाये जाते हैं। अन्य बोलियों में भी कई स्वर पाये जाते हैं। (5) अनुनासिक ध्वनियाँ अधिकता से पायी जाती हैं। (6) चीनी भाषा में व्याकरण नहीं पाया जाता है। (7) चीनी भाषा में अर्थहीन और अर्थवान् दो प्रकार के शब्द पाये जाते हैं। अर्थहीन शब्दों का प्रयोग सम्बन्ध-तत्त्व के लिये किया जाता है। (8) चीनी भाषा में विश्व का प्राचीनतम साहित्य उपलब्ध है। (9) चीनी भाषा में भावों को व्यक्त करने की क्षमता है। (10) चीनी भाषा में संस्कृत का अनूदित बौद्ध-साहित्य सुरक्षित है। इस परिवार की 'तिब्बती', 'बर्मी' सम्पन्न भाषण है।

7. जापानी-कोरियाई परिवार–इस भाषा-परिवार का क्षेत्र जापान और कोरिया है। इस भाषा-परिवार की दो शाखायें हैं—(1) जापानी, (2) कोरियाई।

(1) जापनी–इसका प्रमुख क्षेत्र जापान में है और यह जापान की भाषा है। साहित्य और अभिव्यक्ति की दृष्टि से संसार की सर्वोच्च भाषाओं में इसकी गणना की जाती है। इस भाषा को बोलने वालों की संख्या लगभग छः करोड़ है। इसमें आठवीं शताब्दी तक का साहित्य भरा है। इसकी लिपि चीन से सम्बद्ध है। उन्नीसवीं शताब्दी में जापान की राजधानी टोकियो में बनने के कारण इस भाषा-परिवार का महत्त्व बढ़ा हुआ है।

विशेषता–जापानी के लिखित और मौलिक रूप में पर्याप्त भेद हैं, परन्तु दोनों की एकता के लिये प्रयास चल रहा है।

(2) कोरियाई–यह कोरिया की भाषा है। इसके बोलने वालों की संख्या लगभग दो करोड़ है। इसमें चीनी शब्दों की बहुलता है। पन्द्रहवीं शताब्दी तक तो इसकी लिपि चीनी थी, परन्तु अब इसकी अपनी लिपि हो गयी है। इसकी लिपि संस्कृत देवनागरी पर आधारित है। इस दृष्टि से इसकी लिपि की ब्रह्मी की पुत्री मानते हैं।

विशेष–इन भाषाओं को किसी वर्ग में रखने पर पर्याप्त मतभेद है। एक वर्ग इन दोनों भाषाओं को स्वतन्त्र मानता है। दूसरा वर्ग इन्हें यूराल-अल्ताई परिवार में रखने का पक्षधर है। तीसरा वर्ग इसे मलय-पोलिनेशियाई परिवार में परिगणित किये जाने का हिमायती है।

विशेषतायें–(1) इस परिवार की भाषायें अश्लिष्ट योगात्मक हैं। (2) इसके शब्द चीनी के समान एकाक्षर न होकर अनेकाक्षर हैं। (3) इसका ध्वनि-समूह सरल है और संयुक्त व्यञ्जनों का प्रयोग कम है। (4) इसमें बहुवचन बनाने के लिये शब्द की पुनुरुक्ति की जाती है। (5) इसमें व्याकरणसम्बन्धी लिङ्ग का अभाव है तथा वचन की धारणा भी स्पष्ट नहीं है।

8. अत्युत्तरी (हाइपरबोरी) परिवार–इस भाषा-परिवार का क्षेत्र साइबेरिया का उत्तर-पूर्वी प्रदेश है। इसकी प्रमुख भाषायें हैं—(1) युकगिर, (2) कमचटका (या इटाल्मिश, (3) चुकची, (4) ऐनू।

इस भाषा-परिवार का नाम अत्युत्तरी इस लिये पड़ा है कि ये अत्युत्तर में बोली जाती है। इसे पेलियो-एशियाटिक (पुरा एशियाई) भी कहते हैं। इस भाषा-परिवार का हाइपरबोरी नाम अनवर्थक है। 'हाइपर' का अर्थ होता है 'अत्यन्त' और 'बोरी' का अर्थ है 'उत्तरी'। वस्तुतः यह नाम भौगोलिक है।

विशेषतायें–(1) इसमें सम्बन्ध-सूचक कारक चिह्न अन्त में जुड़ते हैं। (2) सहायक क्रियाओं के द्वारा काल का निर्णय होता है। (3) इस भाषा की संख्यायें दशमिक या विंशतिक प्रणाली से बनायी जाती हैं।

9. बास्क-परिवार–इस भाषा-परिवार का क्षेत्र फ्रांस और स्पेन की सीमा पर पेरिनीज पर्वत का निकटवर्ती भाग है। यह वस्तुतः अनार्य भाषा है, परन्तु चारों ओर आर्य भाषाओं से घिरी है। इसके बोलने वालों की संख्या अति स्वल्प (लाखों में) है। ध्वनियों की दृष्टि से यह भाषा समृद्ध है। इस परिवार की प्रमुख भाषा 'बास्क' है, जिसका अपेक्षित अध्ययन अभी तक नहीं हो सका है।

विशेषतायें–(1) बास्क भाषा मुख्य रूप से अश्लिष्ट-अन्त-योगात्मक भाषा है,

पर इसका क्रिया-रूप प्रश्लिष्ट है। (2) क्रिया-रूपों में बहुत जटिलता है। इसमें कर्तृवाच्य नहीं होता है, केवल कर्मवाच्य होता है। इसके सर्वनाम सामी-हामी परिवार से मिलते-जुलते हैं। (4) वाक्य-रचना को कुछ लोग सरल मानते हैं और कुछ लोग कठिन। क्रिया-रूपों में लिङ्ग-व्यवस्था मिलती है। (5) इसका शब्दकोश बहुत सीमित है तथा अमूर्त भावों के लिये शब्द दुष्प्राप्य हैं। (6) समास मिलते हैं। समस्त पदों में एक या अधिक मध्य वर्ण लुप्त हो जाते हैं।

हामी-सामी (हैमेटिक) भाषा-परिवार–इस परिवार की भाषायें सम्पूर्ण उत्तरी अफ्रीका में फैली हैं तथा इन भाषाओं को बोलने वाले मध्य एवं दक्षिणी अफ्रीका तक पाये जाते हैं। अफ्रीका में 'हैम' नामक प्रतिष्ठित पुरुष को आदिपुरुष के रूप में माना जाता है। उन्हीं के नाम पर इस भाषा-परिवार का नाम पड़ा है। शब्द-निर्माण में प्रत्यय और उपसर्ग दोनों देखे जाते हैं। बड़ी वस्तुओं को पुंल्लिङ्ग तथा निर्बल वस्तुओं को स्त्रीलिङ्ग माना जाता है। लिङ्ग-भेद के निश्चित नियम नहीं हैं। इस परिवार की भाषायें निम्नाङ्कित वर्गों में विभाजित की गयी हैं—

(क) मिश्र शाखा, (ख) एथयोपिक शाखा, (ग) लिबियन शाखा, (घ) मिश्रित शाखा।

विशेषतायें–(1) इस परिवार की भाषायें श्लिष्ट एवं योगात्मक हैं और वे सैमेटिक परिवार से विशेषतः प्रभावित हैं। (2) इसमें प्राचीन लेखक एवं धार्मिक लेख उपलब्ध हैं। (3) इस परिवार की भाषाओं में संज्ञा के साथ प्रत्यय, क्रिया के साथ प्रत्यय और उपसर्ग जोड़े जाते हैं। (4) बहुवचन, लिङ्ग-भेद आदि के लिये निश्चित नियम नहीं हैं। (5) संज्ञा के वचनों में परिवर्तन होने पर लिङ्ग में भी परिवर्तन हो जाता है। (6) इन भाषाओं में क्रिया द्वारा काल का ज्ञान नहीं होता है, अपितु काल-ज्ञान के लिये सहायक शब्दों का प्रयोग होता है। (7) इस परिवार की भाषायें संयोगावस्था से वियोगावस्था की ओर बढ़ रही हैं।

सेमेटिक (सामी) भाषा-परिवार–इस परिवार की भाषायें मोरक्को से स्वेज नहर तक फैली हैं। इस परिवार की 'अरबी' भाषा मुख्य भाषाओं में है। 'अरबी' भाषा मोरक्को तथा अलजीरिया की राजभाषा है। हिब्र (यहूदी) भाषा तथा 'आरमेनियम' भाषा भी इसी परिवार की शाखायें हैं। इस परिवार की भाषाओं का मुख्य स्थान एशिया है। इसीलिये इस परिवार को यूरेशिया-खण्ड में सम्मिलित किया गया है।

विशेषतायें–(1) धातुयें तीन व्यञ्जन की होती हैं। स्वर-परिवर्तन से अर्थ-परिवर्तन होता है। (2) बहुवचन बनाने में प्रत्ययों का प्रयोग होता है। (3) इस परिवार की भाषायें श्लिष्ट योगात्मक विभक्ति-प्रधान हैं। (4) इसमें तीन कारक–कर्त्ता, कर्म तथा सम्बन्ध होते

हैं। इन्हीं से और कारकों का भी काम लिया जाता है। (5) इसमें समास का अभाव है। (6) यह भाषा संयोगात्मक से वियोगात्मक हो गयी है।

भारोपीय भाषा-परिवार

यूरेशिया भूखण्ड का ही नहीं, अपितु सभी भूखण्डों का यह महत्त्वपूर्ण भाषा-परिवार है।

भारोपीय भाषा-परिवार का महत्त्व–इस परिवार के महत्त्व को इस प्रकार प्रकट किया जा सकता है—(1) इस भाषा-परिवार का सर्वाधिक महत्त्व है। भाषा-विज्ञान की आधारशिला इसी परिवार द्वारा डाली गयी है। इस भाषा-परिवार की भाषाओं की जितना अधिक विवेचन, खोज तथा अध्ययन किया गया है, उतना किसी अन्य भाषा-परिवार का नहीं। (2) इस भाषा-परिवार में संसार की प्राचीनतम सभ्यतायें पायी जाती हैं, जिनमें विश्व की प्राचीनतम साहित्यिक निधि सुरक्षित है। विश्व का सबसे प्राचीन साहित्य ऋग्वेद के रूप में संस्कृत में उपलब्ध है। संस्कृत, ग्रीक, लैटिन, फ्रेंच जैसी प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण भाषायें इसी परिवार की भाषायें हैं। (3) यह भाषा-परिवार बहुत विशाल है, जो यूरोप, अमेरिका, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया तक फैला है। विश्व में इस परिवार की भाषा बोलने वालों की संख्या सर्वाधिक है तथ उनका विश्व की राजनीति में महनीय स्थान है। भाषाओं के क्रमिक विकास को दिखाने वाला साहित्य इस परिवार की भाषाओं में पाया जाता है। (4) इस परिवार की प्राचीन भाषाओं के अध्ययन से यह सिद्ध किया जाता है कि कभी मानव का मूल-स्थान मध्य-एशिया था तथा भाषायें परस्पर सम्बन्धित थीं। (5) इस भाषा-परिवार के अनुशीलन के परिणामस्वरूप ही भाषा-विज्ञान का विकास हुआ। (6) ग्रीक, लैटिन, संस्कृत के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इन तीनों भाषाओं की जननी एवं मूल भाषा एक ही रही होगी। इस प्रकार विश्व की प्राचीनतम संस्कृति, साहित्यिक विकास, भाषा-विकास, मानव की आदि-भूमि, ध्वनि-सम्बन्धी तथ्यों की एकता, भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन आदि के दृष्टिकोण से भारोपीय परिवार का अपना विशिष्ट इतिहास है। (7) इस परिवार के भाषा-भाषी विश्व के प्रायः सभी भागों में अपना प्रभुत्व स्थापित किये हुये हैं। राजनीतिक कारणों से ही इस परिवार की अंग्रेजी, फ्रेंच आदि भाषायें अनेक महाद्वीपों प्रचलित हैं। (8) विश्व को ज्ञान की ज्योति से आलोकित करने का श्रेय इसी भाषा-परिवार को है। इस भाषा-परिवार के लोग आज विज्ञान के क्षेत्र में भी विश्व के अन्य भाषा-वर्गों की अपेक्षा आगे हैं। वैज्ञानिक साहित्य के लिये विश्व की सभी भाषायें इसी परिवार की ऋणी हैं।

उक्त प्रकार से भारोपीय भाषा-परिवार का महत्त्व निःसंदिग्ध है।

भारोपीय भाषा-परिवार के अनेक नाम–यूरेशिया खण्ड के सबसे महत्त्वपूर्ण

इस भाषा-परिवार के नामकरण की समस्या थोड़ी कठिन है। इसके कुछ नामों पर विचार करना आवश्यक है—(1) **इण्डो-जर्मनिक**–इस भाषा-परिवार को पहले 'इण्डो-जर्मनिक' नाम दिया गया। इसका यह नाम इसलिये दिया गया कि इसका क्षेत्र यूरोप में जर्मन भाषाओं से लेकर एशिया में भारत की भाषाओं तक फैला था। **(2) इण्डो-केल्टिक**–इसका दूसरा नाम 'इण्डो-केल्टिक' रखा गया, किन्तु इसका प्रचलन नहीं हो सका। **(3) संस्कृत-भाषा-परिवार**–यूरोपीय विद्वानों का संस्कृत से परिचय होने पर उसका नाम 'संस्कृत-भाषा-परिवार' यह नाम इसलिये रखा गया कि उनका (विद्वानों का) यह मत था कि इस परिवार की भाषायें संस्कृत से निकली हैं। बाद में यह नाम भी प्रचलित नहीं हो सका। **(4) आर्य-परिवार**–इस परिवार की भाषाओं को बोलने वाले लोग आर्य जाति के हैं। इसलिये यह नाम दिया गया, परन्तु इस नाम को भी बाद में परित्याग कर दिया गया। **(5) काकेशियन भाषा-परिवार**–कुछ विद्वानों के द्वारा रखा गया यह नाम भी ग्राह्य नहीं हो सका। **(6) जफ़ेटिक (जैफाइट) भाषा-परिवार**–यह नाम मुहम्मद हजरत के तीसरे बेटे जैफ़ के नाम पर रखा गया, परन्तु इसका प्रचलन नहीं हो सका। **(7) इण्डो-हित्ताइत (भारत-हित्ती)**–इस परिवार के लिये यह नाम भी प्रदान किया है, परन्तु यह नाम भी ख्याति में नहीं आ सका। **(8) विरोस भाषा-परिवार**–इस परिवार के बोलने वाले लोगों को विरोस कहा जाता है, 'इसलिये उसी आधार पर इसका यह नामकरण किया गया है। **(9) भारोपीय भाषा-परिवार (इण्डो-योरोपियन-परिवार)**–इस परिवार के लिये सर्वाधिक प्रचलित नाम भारोपीय भाषा-परिवार है। इस नामकरण का आधार भौगोलिक है। वास्तविकता यह है कि इस परिवार की भाषायें इस क्षेत्र (यूरोप से भारत तक) के बाहर अमेरिका, आस्ट्रेलिया तथा अफ्रीका में भी बोली जाती है। यह नाम विद्वानों द्वारा अधिक गृहीत किया गया है। **(10) भारोपीय एनाटोलियन**–कुछ विद्वानों के द्वारा उक्त भाषा-परिवार के लिये यह नाम सुझाया गया है। ऊपर जिन नामों की चर्चा की गयी है, उनमें से 'भारोपीय' नाम को छोड़कर एक भी ऐसा नहीं है जो 'भारोपीय परिवार' (इण्डो-योरोपियन-परिवार) की तुलना में प्रचलित हो सका है। सम्भव है कुछ समय बाद भाषाविद् इस परिवार के लिये विरोस (भारत-एनाटोलियन) जैसे नाम से सहमत हो जायँ। परन्तु जब तक ऐसा नहीं हो जाता, तब तक इस परिवार को 'भारोपीय परिवार' कहना ही सङ्गत और समीचीन है।

भारोपीय भाषा-परिवार की भाषाओं की प्रमुख विशेषतायें–भारोपीय भाषा-परिवार की भाषाओं की मुख्य विशेषतायें निम्नाङ्कित हैं—(1) इस परिवार की भाषायें श्लिष्ट-योगात्मक हैं। (2) इस परिवार की भाषाओं में अर्थ-तत्त्व से सम्बन्ध-तत्त्व का संयोग बहिर्मुखी होता है, जैस–'हृ' धातु से 'हार' शब्द निष्पन्न होता है। उसमें 'वि',

'आ', 'सम्', 'परि' आदि उपसर्ग पहले जोड़कर क्रमशः 'विहार', 'आहर', 'संहार', 'परिहार' आदि शब्द बनाये जाते हैं। (3) इस परिवार की भाषायें वियोगावस्था की ओर बढ़ रही हैं। (4) इसमें मुख्यतः धातुओं से शब्द निष्पन्न होते हैं। (5) धातुओं में 'कृत्' तथा 'तद्धित' प्रत्यय लगाकर शब्द बनाये जाते हैं। (6) उपसर्ग आदि का प्रयोग करने से धातुओं का अर्थ बदल जाता है। (7) इस परिवार की भाषाओं में समास-रचना अत्यतम विशेषता है। (8) इन भाषाओं में स्वर-परिवर्तन से सम्बन्ध-तत्त्व का परिवर्तन हो जाता है। स्वर-परिवर्तन से अर्थ में भी परिवर्तन हो जाता है। यह प्रवृत्ति संस्कृत में अधिक है। (9) पहले इन भाषाओं में प्रत्ययों की बहुलता थी। प्रत्यय पहले स्वतन्त्र अर्थ प्रकट करते थे, परन्तु बाद में इनकी स्वतन्त्रता समाप्त हो गयी। (10) इस परिवार की भाषाओं में तीन लिङ्ग (पुंल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग तथा नपुसक लिङ्ग), तीन वचन (एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन) तथा तीन पुरुष (प्रथम, मध्यम तथा उत्तम) होते हैं। (11) इसमें पहले आठ विभक्तियाँ थीं, जो आज भी संस्कृत में सुरक्षित हैं। ग्रीक तथा लैटिन में वे छँट गयी हैं। इस परिवार की भाषायें विभक्ति-बहुल हैं। (12) इसमें क्रिया-फल के भोकृत्व के आधार पर आत्मनेपद तथा परस्मैपद का विधान होता है। (13) इन भाषाओं में विशेषतः संस्कृत में स्वरों का महत्त्व होता है। स्वर-परिवर्तन से अर्थ में भी परिवर्तन होना एक विशेषता है। (14) इस भाषा-परिवार की भाषाओं का अन्य भाषा-परिवारों की अपेक्षा अधिक अध्ययन किया गया है। (15) वाक्य-रचना पदों से होती है, शब्दों से नहीं। वाक्य-निष्पत्ति से पूर्व पद-निष्पत्ति आवश्यक है।

भारोपीय परिवार की शाखायें–'भारोपीय' शब्द भारत + यूरोपीय का संक्षिप्त रूप है। वस्तुतः यी (Indo-European) का अनुवाद है। भारोपीय परिवार की शाखायें भारतवर्ष से लेकर यूरोप तक फैली हुयी हैं। इस परिवार की दस शाखायें हैं। उनके नाम ये हैं—1. भारत-ईरानी (आर्य)—(क) भारतीय, (ख) ईरानी। 2. बाल्टो-स्लाविक—(क) बाल्टिक, (ख) स्लाविक। 3. आर्मीमी। 4. अल्मानी (इलीरी)। 5. ग्रीक ((हैलेनिक)। 6. केल्टिक। 7. जर्मानिक (ट्यूटानिक)। 8. इटालिक। 9. हिटाइट (हित्ती)। 10. तोखारी।

केन्तुम् (Centum) तथा शतम् (सतम्) वर्ग

भारोपीय परिवार की भाषाओं को ध्वनि के आधार पर दो भागों में विभक्त किया जाता है—1. केन्तुम्, 2. शतम्।

भाषाविदों का अनुमान है कि भारोपीय परिवार की जननी मूल भारोपीय भाषा में ही परस्पर भिन्न दो बोलियाँ थीं, जिन्होंने आगे भी अपनी भिन्नता बनाये रखी और उनके आधार पर केन्तुम् और शतम् ये दो वर्ग बनाये गये। इस वर्गीकरण का श्रेय 'प्रो0 स्कोली' को है, जिन्होंने सन् 1870 ई0 में विद्वानों के समक्ष अपना यह मत प्रस्तुत

किया कि भारोपीय भाषा की कण्ठय (कण्ठ-तालव्य) ध्वनियाँ (ग्रीक, लैटिन, फ्रेंच आदि में) तो ज्यों की त्यों रह गयीं, परन्तु कुछ भाषाओं (अवेस्ता, संस्कृत, फारसी, रूसी आदि) में वे (ध्वनियाँ) संघर्षी (स्, श्, ज् आदि) ध्वनियों के रूप में बदल गयीं। इसको स्पष्ट करने के लिये दो प्रतिनिधि भाषाओं 'लैटिन' तथा 'आवेस्ता' को लिया गया तथा उदाहरण के लिये 100 संख्या वाचक शब्द को दृष्टिगत किया गया। लैटिन भाषा में 100 को केन्तुम (Centum) कहा जाता है तथा अवेस्ता में 'सतम्' संस्कृत में 'शतम्' कहा जाता है। कुछ विद्वानों का यह अनुमान है कि 'सौ' के लिये भारोपीय भाषा में 'कम्तोम' (Kntom) शब्द था जो बाद में शतम् और केन्तुम भाषाओं में अधोलिखित रूप से परिवर्तित हो गया। निम्नाङ्कित विवरण के अनुसार इस तथ्य को अच्छी प्रकार समझा जा सकता है—

शतम् (सतम्) वर्ग	**केन्दुम वर्ग**
संस्कृत—शतम्	लैटिन—केन्टुम (Centum)
अवेस्ता—सतम्	ग्रीक—हेकटोन (Hekaton)
फारसी—सद	केटिक—(आयरिश)-केत् (Cet)
हिन्दी—सौ	तोखारी—कन्ध (Kandh)
रूसी—स्तो (Sto)	गाथिक—हुन्ड (Hund)
लिथुआनियन—शिस्तस् स्जिम्तास (Szimtas)	जर्मन—हुन्डर्ट (Hundert)
	फ्रेंच—सं (= सेंट, Cent)
	इटालियन—केन्तो

भारोपीय भाषाओं को '**केन्तुम्**' तथा '**शतम्**' इन दो वर्गों में बाँटा जाता है। फिर इन वर्गों को अनेक भागों में विभाजित किया गया है—

1. **केन्तुम वर्ग**–इस वर्ग की भाषाओं को छः शाखाओं मे विभाजित किया गया है—
1. केल्टिक, 2. जर्मानिक (ट्यूटानिक), 3. लैटिन (इटैलियन), 4. ग्रीक (हेलेनिक), 5. हिट्टाइट (हित्ती), 6. तोखारी (तुखारी)।

2. **शतम् वर्ग**–इस वर्ग को निम्नाङ्कित पाँच शाखाओं में विभाजित किया गया है—
1. अल्बानी (अल्बेनियन) या इलीरियन, 2. बाल्टिक (स्लाविक), 3. आर्मीनी (आर्मेनियन), 4. आर्य (भारत-इरानी)।

केन्तुम् वर्ग

1. कैल्टिक या केल्टी–इस शाखा के बोलने वाले लोग प्राचीन काल में समस्त पश्चिमी तथा मध्य यूरोप एवं एशिया माइनर में रहते थे। सम्प्रति इस शाखा के बोलने वाले यूरेशिया के पश्चिमी भाग के कुछ क्षेत्रों में रहते हैं। इस शाखा की भाषायें हैं—

1. स्काटलैण्ड की स्कॉच या स्काटिश भाषा, 2. आयर्लैण्ड की आइरिश, 3. वेल्स की वेल्श भाषा तथा फ्रांस के उत्तर पश्चिम क्षेत्र में बोली जाने वाली ब्रिटेनी प्रान्त की ब्रेटन भाषा है।

लैटिन तथा कैल्टिक दोनों भाषाओं में, पुँल्लिग तथा नपुंसकलिङ्ग ओकारान्त संज्ञाओं में सम्बन्ध कारक हेतु 'ई' प्रत्यय का प्रयोग किया जाता है तथा क्रियार्थक संज्ञा बनाते समय शतृ प्रत्यय का प्रयोग होता है। दोनो कर्मवाच्य की रचना में समान तथा में दो प्रकार के उच्चारण-भेद पाये जाते हैं। प्रथम 'क' वर्ग तथा दूसरा 'प' वर्ग। 'क' वर्ग गायलिक कहलाता है जिसमें आयरिश, स्कॉच तथा मैक्स भाषायें सम्मिलित हैं। 'प' वर्ग ब्रिटानिक कहलाता है जिसमें वेल्स, कार्निश तथा ब्रिटेन भाषायें आती हैं।

2. ट्यूटानिक (जर्मनी)–भारोपीय परिवार की इस महत्त्वपूर्ण शाखा में अंग्रेजी भाषा भी है तथा इनमें ध्वनि-परिवर्तन मुख्यतः होता है। इन भाषाओं में ध्वनि-परिवर्तन दो बार पहला प्रागैतिहासिक काल में दूसरा वर्ण-परिवर्तन सातवीं शताब्दी में घटित हुआ। इस शाखा को 3 भागों में बाँटा गया है—(1) पूर्वी उप शाखा, (2) उत्तरी उप शाखा, (3) पश्चिमी उपशाखा। **(1) पूर्वी उपशाखा**–इसके अन्तर्गत प्राचीन 'गॉथिक' भाषा आती है जो अब लुप्त हो चुकी है। यह भाषा संस्कृत से अधिक साम्य रखती थी। **(2) उत्तरी उपशाखा**–इसके अन्तर्गत प्राचीन नार्स या आइसलैण्डी भाषा आती है। इसमें सातवीं शदी से साहित्य पाया जाता है। 11वीं शताब्दी में यह पश्चिमी तथा पूर्वी दो भागों में बँट गयी। पश्चिमी के अन्तर्गत आइसलैण्डी तथा नार्वेजी (नार्वे की भाषा) तथा पूर्वी के अन्तर्गत स्वीडी (स्वीडन की भाषा) तथा डेनमार्क की डेनिश भाषा है। **(3) पश्चिमी उपशाखा**–इसके अन्तर्गत दो भाग हैं—प्रथम–उच्च जर्मन तथा द्वितीय–निम्न जर्मन। उच्च जर्मन का क्षेत्र जर्मनी का दक्षिणी पर्वतीय क्षेत्र है तथा निम्न जर्मन का क्षेत्र उत्तर मैदानी भाग है। निम्न जर्मन भाषा से उच्च भाषा बेल्यिम प्लेमी तथा अंग्रेजी का विकास हुआ है। अंग्रेजी अन्तर्राष्ट्रीय भाषा है जिसमें सातवीं शताब्दी से साहित्य पाया जाता है।

3. लैटिन (इटैलिक)–इस भाषा का प्रधान क्षेत्र इटली देश था। इस शाखा की दो प्राचीन भाषायें भी थीं (1) 'ओस्कन', (2) 'अम्ब्रियन'। इन दोनों भाषाओं का लोप 500 ई0पू0 में हो गया था। बाद में इसी क्षेत्र पर लैटिन का विस्तार हो गया। यह प्राचीन रोम साम्राज्य की भाषा रही है। रोम नगर के समीप के क्षेत्रों की भाषा लैटिन थी। इस भाषा के दो

रूप पाये जाते हैं—(1) साहित्यिक या लिखित तथा (2) कथित। लैटिन भाषा में रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय वालों का धार्मिक साहित्य सुरक्षित है। लैटिन भाषा (बोलचाल) से वर्तमान फ्रेंच, इटैलिक, स्पेनिश, पुर्तगाली तथा रूमानी भाषाओं का विकास हुआ है। फ्रेंच भाषा संसार की उन्नत, श्रेष्ठ एवं समृद्ध भाषाओं में मानी जाती है। रोम के समीप की लैटिन को 'रोमान्स' नाम भी दिया जाता है। रूमानी भाषा रूमानिया में बोली जाती है।

विशेषता–यूरोपीय भाषाओं पर लैटिन का उसी प्रकार प्रभाव था जैसे भारतीय आर्य भाषाओं पर संस्कृत का है। यह भाषा वियोगात्मक है। कैल्टिक तथा इटैलिक भाषाओं में बहुत समानता पायी जाती है।

4. ग्रीक या हेलेनिक–यह भारोपीय परिवार की प्राचीनतम शाखाओं में से एक है। इसमें लिखे होमरकृत 'इलियड' और 'ओडिसी' महाकाव्यों में भाषा का प्राचीन रूप पाया जाता है जो 1000 ई०पू० का है। सुकरात तथा अरस्तु द्वारा लिखे गये ग्रन्थ ग्रीक-भाषा की निधि हैं। ग्रीक भाषा तथा वैदिक संस्कृत की परस्पर **समानता** है—(1) ग्रीक तथा संस्कृत भाषाओं में संगीतात्मक स्वराघात की प्रधानता है। (2) दोनों भाषायें संयोगात्मक हैं। (3) दोनों में शब्दों के बहुत अधिक रूप पाये जाते हैं। (4) संस्कृत में परस्मैपद तथा आत्मनेपद होते हैं उसी प्रकार ग्रीक में ऐक्टिव तथा मिडिल वायस होते हैं। (5) संस्कृत भाषा में संज्ञा और सर्वनामों के रूपों की अधिकता है तो ग्रीक में क्रिया तथा अव्यय रूपों की। (6) संस्कृत में व्यञ्जन अधिक पाये जाते हैं लेकिन ग्रीक में स्वर अधिकता से पाये जाते हैं। (7) संस्कृत तथा ग्रीक भाषाओं में द्विवचन, समास, निपात आदि की अनेक समानतायें पायी जाती हैं।

ग्रीक भाषा का क्षेत्र अब सङ्कुचित हो गया है। रोमन साम्राज्य के समय भूमध्य सागर के चारों ओर के क्षेत्र में इसका प्रयोग होता था। ग्रीक शाखा की मुख्य भाषायें लोकानियन, मेस्सेनियन, कारिथियन, मेगारन, क्रीटन, फोक्सिन, लोकिमन, एलिसन, थेसालेनियन, एओलिमन, बोइओटिन, इओनिक, एट्रिक आदि हैं।

5. हिटटाइट (हित्ती)–906-7 में उत्तरी एशिया माइनर के बोगाज कोई स्थान पर हुयी खुदाई में कीलाक्षर लेख से इस भाषा-परिवार का ज्ञान हुआ। यह भाषा एशिया माइनर में 1900 से 1300 ई० पू० बोली जाती थी। हित्ती भाषा को कुछ विद्वान् अनिश्चित वर्ग की भाषा मानते हैं किन्तु अध्यापक हाज़्नी के अनुसार यह भारोपीय परिवार की ही भाषा है। हित्ती भाषा की प्रमुख **विशेषतायें** इस प्रकार हैं—(1) इस की विभक्तियाँ तथा सर्वनाम संस्कृत तथा लैटिन से मिलती हैं। (2) कारक तथा क्रिया-रचनायें भारोपीय भाषाओं के समान हैं। (3) संस्कृत तत् (वह) का रूप भी हित्ती में 'तत्' ही मिलता है

लेकिन संस्कृत कः (कौन) के लिये हित्ती भाषा में 'कुइस' रूप प्राप्त होता है। 'हित्ती-भाषा के कुछ लक्षण सेमेटिक भाषाओं से भी मिलते हैं।

6. तोखारी (तुखारी) भाषा–यह मध्य एशिया के तुरफान की भाषा है। इसका ज्ञान सन् 1904 ई0 में मध्य एशिया के चीनी तुर्किस्तान (सिक्यांग प्रदेश) में तोखारी भाषा के लेख प्राप्त होने से हुआ है। शकों की यह भाषा 700 ई0 तक यह लुप्त हो गयी थी। तोखारी भाषा यूराल-अल्टाई से प्रभावित है। तोखारी की **विशेषतायें** इस प्रकार हैं— (1) इस भाषा में स्वर-सम्बन्धी जटिलता अल्प है। (2) संख्यावाचक शब्द तथा सर्वनाम भारोपीय परिवार की भाँति हैं। (3) शब्द-भण्डार में संस्कृत से बहुत समानता है। (4) तोखारी में संस्कृत की भाँति आठ विभक्तियाँ पायी जाती हैं। (5) क्रिया-रूप भी सरल हैं। (6) 'सौ' शब्द के लिये तोखारी में 'कन्ध' शब्द पाया जाता है, यही कारण है कि इसकी गणना 'केन्तुम्' वर्ग में की गयी है। (7) इस भाषा के सन्धि-नियम संस्कृत के समान है। संस्कृत में इसकी समानता इस प्रकार देखी जा सकती है—संस्कृत के 'पितृ', 'मातृ', 'भ्रातृ', 'वीर' शब्द तोखारी में क्रमशः 'पाचार', 'माचर', 'प्राचर' तथा 'वीर' (wir)— इस रूप में पाये जाते हैं।

शतम् वर्ग–इस वर्ग की प्रमुख पाँच शाखायें पाँच हैं जो निम्नाङ्कित है—

(1) आल्वेनियन या इलीरियन शाखा, (2) वाल्टिक (लैटिन) शाखा, (3) अमेनियन शाखा, (4) आर्य शाखा।

(1) अल्बेनियन या इलीरियन–इस भाषा-परिवार का क्षेत्र एड्रियाटिक सागर के तटीय क्षेत्र में कारिन्थियन की खाड़ी से द0 पू0 इटली तक स्थित था। इसकी अन्य भाषायें लुप्त हो चुकी हैं, केवल 'अल्वानी' भाषा शेष है जो अल्बानि के पहाड़ी क्षेत्र में बोली जाती है तथा इसके बोलने वाले 15 लाख के लगभग हैं। अल्बानी की दो प्रधान बोलियाँ हैं—(1) घेघ तथा (2) टोस्क। घेघ उत्तरीभाग में तथा टोस्क दक्षिणी भाग में बोली जाती हैं। अल्बानी में 15वीं शताब्दी से लेख मिलते हैं। इस भाषा में ग्रीक, लैटिन, तुर्की, स्लावोनिक भाषाओं के शब्द अधिक मात्रा में पाये जाते हैं।

(2) बाल्टिक (या लैटिक)–बाल्टिक शाखा के अन्तर्गत तीन भाषायें सम्मिलित हैं—(1) प्राचीन प्रशन (प्रशियाई), (2) लिथुआनी एवं (3) लेटी। इनमें प्राचीन प्रशन जर्मनी देश के प्रशिया प्रदेश की भाषा थी जो अब लुप्त हो चुकी है। इस भाषा का साहित्य 16वीं शताब्दी तक पाया जाता है। लिथुआनी क्षेत्र की भाषा है जो प्रशिया क्षेत्र के उत्तर-पूर्व में स्थित है। इस भाषा में 16वीं शताब्दी से साहित्य प्राप्त होता है। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से इस भाषा का अत्यधिक महत्त्व है। यह भाषा ग्रीक तथा संस्कृत के

बहुत समीप है। इसमें संस्कृत ग्रीक की भाँति संगीतात्मक स्वराघात तथा द्विवचन भी पाये जाते हैं। लेटी या लेटिक भाषा लैटविया राज्य की भाषा है। इसमें भी 16वीं शताब्दी के बाद से साहित्य पाया जाता है। यह राज्य अब रूस में सम्मिलित है।

(3) आर्मीनी (आर्मेनियम)–आर्मेनियन भाषायें आर्मीनिया में बोली जाती हैं। ये 800 ई0 से वहाँ प्रचलित हैं। इनमें ईरानी शब्दों की बहुलता है। इस शाखा की वर्तमान भाषायें अपने प्राचीन रूप से बहुत परिवर्तित हो गयी हैं। प्राचीन आर्मीनी में लिखित अधिकांश साहित्य धार्मिक है, जिसका प्रयोग धार्मिक कार्यों में संस्कृत तथा लैटिन की भाँति होता है। इस शाखा की भाषायें कालासागर तथा काकेशस पर्वत के दक्षिणी भागों में बोली जाती है। 'फीजियन' इसी शाखा में गिनी जाती है। आधुनिक आर्मेनियन के दो रूप मुख्य हैं। एक (स्तकूल) यूरोपीय भाग में तथा दूसरी एशियाई भाग में बोली जाती है जिसे अराराट कहते हैं। स्वरों के दृष्टिकोण से आर्मीनी शाखा यूरोपीय भाषाओं के समीप है किन्तु व्यञ्जनों की दृष्टि से भारत-ईरानी भाषाओं के पास है।

(4) आर्य (भारत-ईरानी)–इस शाखा को 'हिन्द-ईरानी' भी कहते हैं। यह भारोपीय परिवार की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शाखा है। इसमें विश्व का प्राचीनतम एवं श्रेष्ठ साहित्य पाया जाता है। संस्कृत का प्राचीनतम ग्रन्थ 'ऋग्वेद' तथा पारसियों का धार्मिक ग्रन्थ 'अवेस्ता' इसी में है। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से इस शाखा की सामग्री का बहुत महत्त्व है। वस्तुतः 'भाषाविज्ञान' का प्रारम्भ पाश्चात्य विद्वानों द्वारा इसी शाखा से परिचित होने के बाद हुआ। इस शाखा के आर्यों में से कुछ ईरान में तथा कुछ भारतवर्ष में आकर बस गये। इसी आधार पर आर्य-शाखा के दो भाग हो गये—(1) भारतीय शाखा (2) ईरानी शाखा। इसी से आर्य-शाखा को 'भारत-ईरानी' भाषा-कुल कहते हैं। भारत-ईरानी 'परिवार' की तीन शाखायें हैं—1-ईरानी, 2-दरद, 3-भारतीय।

(1) ईरानी–इसका अधिकांश प्राचीन साहित्य यूनानी तथा अरब आक्रमणकारियों ने जलाकर नष्ट कर डाला। आधुनिक समय में इसमें प्राचीन साहित्य 'अवेस्ता' के रूप में तथा कुछ शिला-लेखों में पाया जाता है जो 600 ई0पू0 तक का माना जाता है। ईरानी की दो शाखायें प्राचीन समय से ही हैं—(क) फारसी (ख) अवेस्ती। फारसी भाषा का क्षेत्र ईरान का पश्चिमी भाग तथा अवेस्ती का ईरान का पूर्वी भाग है।

(क) फारसी–इस भाषा में डेरियस प्रथम (ई0पू0 521-485) तथा अन्य एकेमेनियन राजाओं द्वारा उत्कीर्ण शिलालेखों में इसका प्राचीन रूप पाया जाता है। ससानी राजाओं का समय (226 ई0 से 651 ई0)

फारसी का दूसरा रूप वह है जिसे पहलवीं कहते हैं। मध्यकालीन फारसी या

पहलवी को भी दो भागों में बाँटा गया है—(अ) **हुज्वारेश**–इसमें पारसियों का धार्मिक साहित्य भी पाया जाता है। (आ) **पारसी या पाजंद**–यह सेमिटिक प्रभाव से मुक्त है तथा भारतीय पारसियों की भाषा थी। आधुनिक फारसी मुसलमानों के प्रभावों के कारण अरबी शब्दों से बोझिल है। 'शाहनामा' (फिरदौसीकृत) इसमें प्रमुख साहित्यिक रचना है। अब अरबी शब्दों के स्थान पर फारसी शब्दों के प्रयोग को प्रमुखता दी जाती है। आधुनिक फारसी की कई बोलियाँ पायी जाती है—ओसेटिक, कुर्दिश, बिलोदी, पश्तो पामीरी आदि।

(ख) अवेस्ती–ईरान के पूर्वी भाग की भाषा थी। इसका प्राचीन रूप पारसियों के प्राचीन धार्मिक ग्रन्थ 'अवेस्ता' में पाया जाता है। पूर्वी ईरानी (अवेस्ती) का मध्य काल का रूप 'सोग्दी' हैं इसमें ईसाई तथा बौद्ध धर्म की पुस्तकें पायी गयी हैं जो ईस्वी के प्रारम्भ से 800 ई0 तक की हैं। अफगामी (पश्तो), बिलोची एवं पामीरी आधुनिक ईरानी से विकसित हुई हैं।

(2) दरद–'दरद' भाषाओं का विस्तार पामीर तथा पश्चिमोत्तर पंजाब के मध्यवर्ती क्षेत्र में हुआ है। सङ्गठन की दृष्टि से 'दरद' भाषा का स्थान ईरानी एवं भारतीय भाषाओं के बीच आता है। यह भारतीय भाषाओं से अधिक प्रभावित है। भारत में इसे 'पैशाची प्राकृत' कहा गया है। इसका प्रभाव मराठी, सिन्धी, पंजाबी पर भी पड़ा है। दरद शाखा की 3 उपशाखायें हैं—(क) दरद, (ख) काफिर, (ग) खोवार। काफिर भाषा खोवार भाषा के पश्चिम में बोली जाती है। खोवार भाषा दर्दिस्तान तथा ईरानी के बीच बोली जाती है। इसकी प्रधान बोली 'चित्राली' है। इन भाषाओं में साहित्य नहीं पाया जाता है। दरद शाखा की भाषायें एवं बोलियाँ ये हैं—शीना-(गिलगिटी, ब्रोक्या), कश्मीरी (कष्टवारी) कोहिस्तानी-मैया, तोखारी, गार्वी आदि।

(3) भारतीय आर्य-भाषा–भारतीय-आर्य-भाषाओं को अधोलिखित 3 भागों में बाँटा गया है—

(1) प्राचीन भारतीय आर्यभाषा काल (2000 (2500) ई0पू0 से 500 ई0पू0 तक)।

(2) मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा काल (500 ई0पू0 से 1000ई0पू0 तक)।

(3) आधुनिक भारतीय आर्यभाषा काल (1000 ई0पू0 से आधुनिक समय तक)।

(1) प्राचीन भारतीय आर्यभाषा काल–(लगभग 2000 ई0 पू0 से 500 ई0पू0 तक)—प्राचीन भारतीय आर्यभाषा इसका रूप वैदिक साहित्य में सुरक्षित इसका प्राचीनतम ग्रन्थ 'ऋग्वेद' है। वेदों के अतिरिक्त ब्राह्मण, आरण्यक, तथा उपनिषद् आदि की भाषा वैदिक संस्कृत (छन्दस्) है। संस्कृत के दो रूप माने जाते हैं—(1) वैदिक संस्कृत (2) लौकिक संस्कृत है। लौकिक संस्कृत में रामायण, महाभारत के अतिरिक्त

संस्कृत के अन्य ग्रन्थ सम्मिलित हैं। कालान्तर में संस्कृत में साहित्य-रचना होती रही परन्तु जनभाषा के रूप में पाली तथा प्राकृत भाषायें विकसित हो गयीं।

(2) मध्यकालीन आर्यभाषा-काल (500 ई0पू0-1000ई0 पू0)– इस कालावधि का साहित्य तत्कालीन जनभाषाओं (पाली तथा प्राकृतों में) पाया जाता है। इस काल की भाषायें उच्चारण तथा व्याकरण की दृष्टि से परिवर्तित होकर संस्कृत से भिन्न हो गयीं थीं। (1) पाली-भाषा में बौद्धधर्म का साहित्य तथा अशोक के शिलालेख पाये जाते हैं। पाली-भाषा को प्राचीन प्राकृत भी कहा जाता है। (2) उसका दूसरा भेद '**मध्य प्राकृत**' नाम का है (इसका काल 500 ई0पू0 से 500 ई0 तक है)। मध्य प्राकृत में जैन प्राकृत तथा अन्य प्राकृतों-मागधी, अर्द्धमागधी, शौरसेनी, पैशाची तथा महाराष्ट्री को सम्मिलित किया जाता है। (3) प्राकृतों का तीसरा भेद अन्त्य प्राकृत या अपभ्रंश है। अपभ्रंश साहित्य का रचना काल 500 ई0 से 1000 ई0 तक माना जाता है। अपभ्रंश से ही आधुनिक आर्य भाषाओं का विकास हुआ है।

(3) आधुनिक भारतीय आर्य भाषाकाल (1000ई0 से अब तक)– अपभ्रंश या अवहट्ट के विभिन्न रूपों से 1000 ई0 के बाद से आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं का विकास हुआ है। आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में हिन्दी, पंजाबी, गुजराती, सिन्धी, बंगला, असमी, उड़िया, मराठी आदि सम्मिलित हैं। राजस्थानी तथा बिहारी-हिन्दी की उपभाषायें हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संसार के भाषा-परिवारों में भारोपीय परिवार अत्यन्त विस्तृत एवं समृद्ध है। भारोपीय परिवार की आर्य शाखा (भारत-ईरानी) का भी विशेष महत्त्व है। संसार का प्राचीनतम साहित्य इसी शाखा की निधि है।

प्राचीन भारतीय आर्यभाषा–भारत की प्राचीन संस्कृति का ज्ञान हमें प्राचीन भारतीय साहित्य द्वारा होता है। भारतीयों (आर्यों) का प्राचीनतम साहित्य प्राचीन भारतीय आर्य भाषा संस्कृत में सुरक्षित है। 'वेद' हमारी प्राचीनतम अमूल्य निधि हैं। इस भाषा के साहित्यिक-सृजन के समय के सम्बन्ध में कोई भी विद्वान् निश्चयात्मक रूप से कुछ नहीं कह सकता है। विदेशी पाश्चात्त्य विद्वानों ने संस्कृत-साहित्य का सम्यक् अनुशीलन किया है तथा उन्होंने वेदों का काल ई0पू0 1000 वर्ष तक माना है किन्तु मैक्समूलर जैसे प्रसिद्ध पाश्चात्त्य विद्वान् ने वेदों की रचना।

आर्य-भाषा का स्वरूप ऋग्वेद से प्राप्त होता है। साधारणतया प्राचीन आर्यभाषाओं का काल 1500 ई0 पूर्व से 500 ई0 पूर्व तक माना जाता है। परन्तु भारतीय और कुछ पाश्चात्त्य विद्वानों के अनुसार उक्त काल 2500 ई0 पूर्व से मानना ठीक है। ऋग्वेद के मन्त्रों को देखने

से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि उसकी रचना न एक समय में हुयी और न एक स्थान पर। वस्तुतः वेदों की रचना कई शताब्दियों तथा कई स्थानों की रचना है। प्राचीन साहित्य में वेदों के अतिरिक्त ब्राह्मणों, आरण्यको तथा उपनिषदों आदि की भाषा वैदिक संस्कृत है।

प्राचीन भारतीय आर्य-भाषाओं के विकास-क्रम के आधार पर उसके दो भाग है— 1. वैदिक संस्कृत, 2. लौकिक संस्कृत।

वैदिक संस्कृत–वैदिक संस्कृत को 'वैदिक' 'वैदिकी' 'छान्दस' भी कहा जाता है। पाश्चात्य भाषा-शास्त्रियों ने भाषासम्बन्धी तुलना के आधार पर ऋग्वेद के दो से नौ' मण्डलों को अधिक प्राचीन तथा एक से दस मण्डलों को अपेक्षाकृत परवर्ती माना है। ऋग्वेद को 'छान्दस' कहने का अभिप्राय यह है क्योंकि उसकी रचना छन्दोबद्ध है ऋग्वेद और यजुर्वेद में गद्य अंश भी है। ब्राह्मण ग्रन्थ भी में गद्य में है। इन ग्रन्थों के गद्य के अवलोकन से तत्कालीन प्रचलित भाषा को बोध होता है। वैदिक साहित्य के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि भाषा का क्रमिक विकास होता गया। सप्त-सिन्धु (पंजाब के आसपास का क्षेत्र) आर्यों का निवास-भूमि था। उस समय की रचनाओं में वैदिक संस्कृत का प्राचीन रूप मिलता है। मध्यदेश में निर्मित रचनाओं में वैदिक भाषा का सुव्यवस्थित रूप मिलता है। परिवर्तन के साक्ष्य के रूप में कहा जा सकता है कि ऋग्वेद की भाषा में पुल्लिङ्ग अकारान्त शब्दों के प्रथमा, द्विवचन में 'आ' का प्रयोग अधिक किया जाता था जो आगे चलकर 'औ' के रूप में प्रचलित हो गया।

कुछ विद्वानों का मत है कि संस्कृत किसी समय जनभाषा थी। यह मुख्यतः साहित्यिक एवं सांस्कृतिक कार्यों के लिये प्रयोग में लायी जाती थी। यह इससे सिद्ध होता है कि प्राचीनतम संस्कृत वाङमय—वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद, आदि-वैदिक संस्कृत में मिलता है। यहाँ यह भी विचारणीय है कि उस समय वैदिक संस्कृत के साथ लोक-भाषायें भी प्रचलित रही होंगी जिनसे संस्कृत के विभिन्न रूप प्रचलित हुये। पाणिनि आदि वैयाकरणों ने प्राचाम् (पूर्वी), उदी चाम् (उत्तरी) आदि कह कर स्पष्ट किया है। संस्कृत के इन विभिन्न रूपों से ही विभिन्न प्राकृतों तथा अपभ्रंशों का विकास हुआ जिनसे आगे चलकर हिन्दी आदि प्रान्तीय भाषाये विकसित हुयीं।

वैदिक भाषा की विशेषतायें–वैदिक भाषा अनेक विशेषताओं से युक्त है। उसकी कतिपय विशेषताओं पर नीचे प्रकाश डाला जा रहा है—

(1) वैदिक भाषा की पद-रचना में विविधता तथा जटिलता है। उसकी विविधता लौकिक संस्कृत में कम हो गयी है। (2) वैदिक संस्कृत में प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में 'देव' शब्द के 'देवाः' वैः 'देवासः'तथा तृतीया बहुवचन में 'देवैः', 'देवेभिः'—दो-दो

रूप मिलते हैं पर आगे चलकर संस्कृत में 'देवाः' तथा 'देवैः' को मान्यता मिली। (3) वैदिक भाषा में धातु रूपों में 'लेट्' लकार का अधिक प्रयोग होता है। (4) धातु-रूपों में विशेषतायें ये हैं—(क) विकरण-व्यत्यय—शप् आदि के स्थान पर दूसरे गण (धातुगण) का विकरण प्रयुक्त होता है। (ख) पद-व्यत्यय—परस्मैपद तथा आत्मनेपद का परिवर्तन। (5) लङ् आदि लकार में अट् ('अ' का अभाव)। (6) तिङ् प्रत्यय में व्यत्यय-जैसे-मः के स्थान पर मसि। (7) द्वित्व का अभाव-जेसे ददाति > दाति। (8) अन्तिम स्वर को दीर्घ जैसे-चक्र > चक्रा, विद्म > विदमा। (9) सङ्गीतात्मक स्वर की मुख्यता। (10) उपसर्गों का धातु से पृथक् प्रयोग—परि द्यावापृथिवीयन्ति सद्यः-ऋग्वेद 1-4-3। यहाँ पर 'परि' उपसर्ग का प्रयोग 'यन्ति' के पहले होना चाहिये परन्तु यहाँ धातु से पृथक दूर हुआ है। (11) लिङ्ग और वचन में परिवर्तन जैसे–मित्राः > मित्रः आदि। (12) दो स्वरों के बीच ड वर्ण का परिवर्तन, जैसे—ईडे > ईले मीदुषे > मीलहुषे। (13) सन्धि-नियमों में परिवर्तन जैसे-प्रगृह्य वाले स्थल में सन्धि—उदाहरण-रोदसी + इमे = रोदसीमे (14) शब्दों के मध्य स्वरागम अथवा स्वरभक्ति जैसे—पृथ्वी > पृथिवी, स्वर्ण > सुवर्ण आदि।

लौकिक संस्कृत या संस्कृत–वैदिक संस्कृत प्रगति के पथ पर गतिशील होती हुयी लौकिक संस्कृत के रूप में प्रतिष्ठित हो गयी। इसकी सबसे प्राचीन रचना वाल्मीकि-रामायण है। जिसे आदिकाव्य भी कहते हैं। उसका रचनाकाल 500 ई0पू0 का है। वैदिक भाषा को लौकिक संस्कृत का रूप धारण करते-करते कुछ परिवर्तन भी हो गये। इसे लौकिक संस्कृत को देववाणी दैवी वाक्, सुरभारती देवभाषा भी कहा जाने लगा।

लौकिक संस्कृत-साहित्य अत्यन्त समृद्ध तथा विशाल है। भास, कालिदास, भवभूति, भारवि, माघ, श्रीहर्ष बाणभट्ट प्रभृति आदि वैयाकरणों के ग्रन्थ इसी में हैं। 18 पुराण मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, चिकित्साशास्त्र, सङ्गीतशास्त्र आदि से सम्बन्धित रचनायें इसी का गौरववर्धन कर रही हैं। आधुनिक काल में भी अनेक महाकाव्य, खण्डकाव्य, नाटक, चम्पू आदि विविध काव्य-विधायें इसी में विरचित हो रही हैं।

इस भाषा ने न केवल भारतीय भाषाओं को प्रभावित किया है, अपितु विश्व की भाषाओं, मुख्य रूप से भारोपीय भाषाओं को भी अनुप्राणित किया है।

संस्कृत भाषा की रूप-रचना–संस्कृत में पदों को दो वर्गों में बाँटा गया है—(1) सुबन्त, 2. तिङ्त। सुबन्त को 'संज्ञा' एवं तिङ्त को 'क्रिया' कहा जाता है। संज्ञाये भी दो प्रकार की होती हैं—(1) अजन्त अर्थात् वे शब्द, जिनके अन्त में 'अच्' (स्वर) रहता है, जैसे—राम, हरि, विष्णु आदि। (2) 'हलन्त' अर्थात् वे शब्द जिसके अन्त में व्यञ्जन रहता है—जैसे बलवान् मतिमान्, वाक् आदि। संस्कृत-भाषा में तीन लिङ्ग होते हैं—(क) पुल्लिङ्ग (ख) स्त्रीलिङ्ग (ग) नपुसंकलिङ्ग। उसमें आठ विभक्तियाँ होती है—

(क)प्रथम (कर्ता) (ख) द्वितीया (कर्म) (ग) तृतीया (करण) (घ) चतुर्थी (सम्प्रदान) (ङ) पञ्चमी (अपादान) षष्ठी (सम्बन्ध) (छ) सप्तमी (अधिकरण) तथा (ज) सम्बोधन। विशेषणों की विभक्तियाँ, वचन एवं लिङ्ग विशेष्य के अनुरूप होती है। 'तत्', 'युष्मद्', 'अस्मद्' आदि सर्वनामों में सम्बोधन के अतिरिक्त सातों विभक्तियाँ होती हैं।

संस्कृत के क्रिया-रूपों में जटिलता और विविधता है। इन्हें 1. कर्तृवात्त्य 2. कर्मवाच्य 3. भाववाच्य 4. परस्मैपद, 5. आत्मनेपद तथा 6. प्रेरणार्थक णिजन्त—इन छः वर्ग में विभाजित किया जा सकता है। क्रिया में दस लकारों का प्रयोग होता है, वे हैं—लट्, लिट्, लुट्, लृट्, लेट्, लोट, लङ्, लिङ, लुङ तथा लृङ। लिङ् लकार के दो भेद होते हैं—आशीलिङ् तथा विधिलिङ। लेट् लकार का प्रयोग केवल वैदिक संस्कृत में होता है। प्रत्येक लकार में तीन वचन (एकवचन, द्विवचन, बहुवचन) तथा तीन पुरुष (प्रथम, मध्यम तथा उत्तम पुरुष) होते हैं। धातुओं का दस गुणों में विभाजन किया गया है—(1) भ्वादिगण (2) अदादिगण (3) जुहोत्यादिगण (4) द्विदादिगण (5) स्वादिगण (6) तुदादिगण (7) रुधादिगण (8) तुदादिगण (9) क्रयादिगण (10) चुरादिगण। क्रियाओं के दो रूप—सकर्मक और अकर्मक होते हैं। इसके अतिरिक्त 'सन्नन्त' 'यङन्त' आदि रूप भी हाते हैं। कुछ धातुयें परस्मैपदी, कुछ आत्मनेपदी और कुछ उभयपदी होती है। लौकिक संस्कृत में तीन काल होते हैं—वर्तमान काल, भूतकाल, भविष्यत् काल। भूतकाल—परोक्षभूत, सामान्य भूत एवं अनद्यतन भूत—इन तीन वर्गों में विभक्त होता है।

संस्कृत में समास का भी विधान पाया जाता है तथा उपसर्गों के प्रयोग से अर्थान्तर भी मिलता है।

संस्कृत-भाषा की विशेषतायें—संस्कृत-भाषा अथवा लौकिक संस्कृत वैदिक संस्कृत का ही विकसित रूप है। संस्कृत के ऊपर पाणिनि के व्याकरण के प्रभाव के कारण उससे (पाणिनि-व्याकरण से) प्रसिद्ध—रूपों का प्रचलन कम हो गया। उपवाद-नियम की संख्या भी न्यून हो गयी और भाषा के शब्द-रूप आदि में संक्षेप और परिष्कार आ गये। संस्कृत भाषा (लौकिक संस्कृत) की विशेषतायें संक्षेप में अधोलिखित हैं—

1. सन्धि-नियम अनिवार्य हो गये। 2. तुमर्थक 15 प्रत्ययों के स्थान पर केवल 'तुम्' इस कृत् प्रत्यय का प्रयोग होता है। 3. संस्कृत-भाषा में 'लेट्' लकार का तथा स्वरों का प्रयोग समाप्त हो गया है। 4. शब्दकोशों में (वैदिक भाषा की अपेक्षा) स्वरों में 'लृ' का प्रयोग समाप्तप्राय हो गया है। 5. जिह्वामूलीय और उपध्मानीय का प्रयोग भी एक प्रकार से उठ गया। 6. उपसर्गों का स्वतन्त्र प्रयोग बन्द हो गया। 7. वैदिक शब्दों के अर्थ में भी अन्तर हो गया। जैसे—वैदिक भाषा में 'न' का अर्थ नहीं (निषेध) के अतिरिक्त 'तुल्य' भी होता है परन्तु संस्कृत में तुल्य अर्थ नहीं होता। 8. वैदिक भाषा में 'क्षिति' का अर्थ 'गृह' होता है।

९. वैदिक भाषा में 'असुर' का अर्थ 'शक्तिशाली' होता है परन्तु संस्कृत में दैत्य होता है।

विशेष–वैदिक संस्कृत (भाषा) एवं लौकिक संस्कृत में अन्तर-इस विषय पर 'वैदिक संस्कृत (भाषा) एवं लौकिक संस्कृत' नामक अध्याय में विस्तृत प्रकाश डाला गया है।

मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषायें (500ई0पू0-1000तक)—मध्यकालीन आर्य-भाषा-काल को प्राकृत-काल भी कहते हैं। इसके तीन स्पष्ट स्तर अधोलिखित हैं—

(क) प्रथम प्राकृत अथवा प्राचीन प्राकृत या पालि (500 ई0पू0 से 100ई0 तक)—अशोक के अभिलेख इसी में है।

(ख) द्वितीय प्राकृत अथवा मध्यकालीन प्राकृत (100 ई0 से 500 ई0 तक)—महाराष्ट्रीय आदि साहित्यिक प्राकृतें इसी में हैं।

(ग) तृतीय प्राकृत अथवा परकालीन प्राकृत या अपभ्रंश (500 ई0 से 1000ई0 तक)।

क. प्रथम प्राकृत अथवा प्राचीन प्राकृत या पालि—प्राचीन प्राकृत में लिखित शिलालेख साहित्य आदि निम्नाङ्कित हैं—

(1) तृतीय शताब्दी ई0 पूर्व से प्रथम सदी ई0 तक के शिलालेख। पालि, बौद्ध ग्रन्थ-महावंश जातक आदि।

(2) यही भाषा जैनसूत्रों, प्रारम्भिक नाटकों जैसे—(अश्वघोष के नाटकों) की भाषा है।

प्राकृत का अर्थ और उसकी उत्पत्ति–इस विषय में तीन मत हैं—(क) प्राकृत की उत्पत्ति संस्कृत से है। (ख) प्राकृत प्राचीन जनभाषा है। (ग) प्राकृत संस्कृत की स्वतन्त्र जन परम्परा है।

(क) प्राकृत की उत्पत्ति संस्कृत से–इस मत के मानने वाले प्राकृत भाषा के वैयाकरणों का विचार है कि 'प्राकृत' की उत्पत्ति संस्कृत से हुयी है। वैयाकरण हेमचन्द्र ने कहा है कि "प्रकृति का अर्थ है मूल भाषा संस्कृत और उससे उत्पन्न भाषा प्राकृत है—जैसे-'प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवं तत आगतं पा प्राकृतम्' (हेमचन्द्र)।

(ख) प्राकृत प्राचीन जनभाषा थी–इस मत के मानने वालों का कहना है कि प्राकृत प्राचीन प्रचलित जनभाषा थी—'प्राकृत्या स्वभावेन सिद्धं प्राकृतम्।' उनका मत है कि प्राकृत का परिष्कृत रूप ही संस्कृत है अर्थात् प्राकृत से संस्कृत निकली है। पाश्चात्त्य विद्वान् इसी मत के समर्थक हैं।

(ग) प्राकृत और संस्कृत की स्वतन्त्र जनपरम्परा–तीसरा मत यह है-न संस्कृत प्राकृत से निकली है और न प्राकृत संस्कृत से दोनों भाषाओं की स्वतन्त्र परम्परा है।

पालि की व्युत्पत्ति–ऊपर 'पालि' का उल्लेख हुआ है। इसकी व्युत्पत्ति के विषय में अनेक मत हैं—

1. आचार्य विधुशेखर भट्टाचार्य ने 'पंक्ति' से 'पालि' की उत्पत्ति इस प्रकार बतायी है—पंक्ति > पत्ति > पल्लि > पालि। 2. भिक्षु सिद्धार्थ ने 'पाठ' से 'पालि' की उत्पत्ति मानी है—पाठ > पाल > पालि > पालि। 3. भिक्षु जगदीश कश्यप ने 'बुद्धोपदेश' शब्द से 'पालि' की उत्पत्ति मानी है। परियाय > पलियाय > पालियाय > पाति। 4. जर्मन विद्वान् डॉ0 मैक्स वेलेसन ने 'पाटलि' (पाटलिपुत्र) से 'पालि' की उत्पत्ति मानी है—पाटलि > पाडलि > पालि। 5. कुछ विद्वानों ने 'पल्लि गाँव' से 'पालि' की निष्पत्ति मानी है—पल्लि > पालि, अर्थात् पालि का अर्थ है गाँव की भाषा। 6. अमरकोष-टीकाकार भानु दीक्षित के अनुसार—'पाल् रक्षणे' धातु से 'पालि' शब्द (पा + इ = पालि) बना है, जिसका अर्थ 'पालन करना' या 'रक्षा करना' है।

पालि का क्षेत्र–पालि-भाषा के क्षेत्र के विषय में बहुत मतभेद है। बहुमत 'मध्यदेश' को ही पालि का क्षेत्र (आधार) मानता है। मनुस्मृति के अनुसार हिमालय से दक्षिण विन्ध्याचल से उत्तर का भूभाग 'मध्यदेश' है।

पालि की कतिपय विशेषतायें–(1) 'पालि' में वैदिक संस्कृत ऋ की ये पाँच स्वर-ध्वनियाँ–ऋ,ॠ, ऌ, ऐ, औ लुप्त हो गयी हैं। (2) 'पालि' में वैदिक संस्कृत के ये पाँच व्यञ्जन लुप्त हो गये, वे हैं–श, ष्, विसर्ग (:), जिह्वामूलीय और उपध्यानीय। (3) 'ऐ' और 'औ' के बदले 'पालि' में क्रमशः 'ए' और 'ओ' मिलता है, जैसे–कैलाश > केलाश, गौतम > गोतम। (4) 'पालि' में हलन्त शब्द नहीं है, केवल अजन्त शब्द मिलते हैं। हलन्त शब्दों के अन्तिम व्यञ्जन का लोप कर उसे अकारान्त बना देते हैं, जैसे–धनवत् > धनवन्त। (5) 'पालि' में तीन लिङ्ग तो हैं परन्तु वचन केवल दो ही (एकवचन और बहुवचन) हैं। (6) धातुओं (क्रियाओं) में आत्मनेपद लगभग लुप्त हो गया है, केवल परस्मैपद का प्रयोग होता है। (7) 'पालि' में शब्द-रूपों में चतुर्थी और षष्ठी के रूप समान होते हैं। (8) 'पालि' में 500 से अधिक धातुयें हैं। (9) 'पालि' में 'तद्भव' शब्दों का आधिक्य है।

विशेष–(1) बौद्ध-मत की 'हीनयान शाखा' के माध्यम के रूप में 'पालि' का महत्त्व बहुत बड़ा है। (2) अशोक के अभिलेखों से भी 'पालि' का महत्त्व बढ़ा है।

प्राकृतों की संख्या को लेकर विद्वानों में मतभेद है, उनमें ये प्रमुख हैं—(1) महाराष्ट्री (विदर्भ-महाराष्ट्र), (2) शौरसेनी (शूरसेन-मथुरा के आस-पास), (3) मागधी (मगध), (4) अर्द्धमागधी (कोशल), (5) पैशाची (सिन्धु)।

1. महाराष्ट्री प्राकृत–यह 'प्राकृत' पद्य की भाषा है। संस्कृत-नाटकों में प्राकृत की रचनायें पद्य में हुयी हैं। इस प्राकृत में विरचित दो ग्रन्थ बहुत महत्त्वपूर्ण हैं—(क) 'हालकृत सतसई' (गाथा सप्तशती) और (ख) प्रवरसेन विरचित 'रावणवहो' (सेतुबन्ध)। कतिपय विद्वान् महाराष्ट्री को शौरसेनी का विकास मानते हैं।

विशेषतायें–(1) महाराष्ट्री प्राकृत में स्वरों की बहुलता है। स्वर-बाहुल्य ही उसकी सङ्गीतात्मकता का कारण है। (2) दो स्वरों के बीच मध्यवर्ती व्यञ्जन का लोप हो जाता है, जैसे–'नूपुर'—'णेउर', 'लोको'—'लोओ', 'रिपु'—'रिऊ' आदि। (3) 'श', 'ष', 'स' का प्रायः 'ह' हो जाता है, जैस–'दश'—'देह', 'पाषाण'—'पाहाण', 'दिवस'—'दिअह' आदि। (4) 'क्ष' का 'च्छ' हो जाता है, जैसे–'कुक्षि'—'कुच्छि', 'उक्षु'—'उच्छि' आदि। (5) 'अनीय' (प्रत्यय) का 'अणिज्ज' हो जाता है, जैसे–'करणीय'—'करणिज्ज'।

2. शौरसेनी प्राकृत–इस 'प्राकृत' का प्रयोग गद्य में होता है। संस्कृत-नाटकों के मध्यवर्गीय और नारियों के सम्मान में इसी प्राकृत का प्रयोग होता है। यह मध्यदेश की भाषा थी और उसका क्षेत्र मथुरा के आस-पास था। इसमें महाराष्ट्री के समान स्वरों का आधिक्य नहीं होता।

विशेषतायें–(1) इसमें दो स्वरों के बीच संस्कृत के 'त' का 'द' और 'प' का 'ध' हो जाता है, जैसे–भवति > होदि। किन्तु 'द' में परिवर्तन नहीं होता, जैसे–जलदः > जलदो। (2) आत्मनेपद की अपेक्षा परस्मैपद का प्रयोग अधिक होता है। (3) 'क्ष' का का 'ख' हो जाता है, जैसे–चक्षु > चखु। (4) सत् > सद्, कथम् > कथम। (5) शब्दों के मध्यगत 'क' तथा ''त का क्रमश 'ग' और 'द' हो जाता है, जैसे–नायकः > णाअगु; अतिथि > अदिधि आदि। (6) 'न' का 'ण' हो जाता है, जैसे–भगिनी > भहिणी। शब्द के मध्यगत 'प' का 'व' हो जाता है, जैसे–दीप > दीव। लिङ्, लङ, लुङ एवं विधिलिङ का प्रयोग प्रायः समाप्त हो गया है।

3. मागधी प्राकृत–यह मगध की भाषा थी। इसका साहित्य अति स्वल्प है। इसका प्राचीनतम रूप अश्वघोष, कालिदास के नाटकों तथा शूद्रक के मृच्छकटिक नाटक में मिलता है। भरत के नाट्य-शस्त्रानुसार यह अन्तःपुर के नौकर अश्वपालक आदि की भाषा थी। मागधी से ही मैथिली, बंगला, उड़िया, भोजपुरी, असमी आदि भाषायें विकसित हुयी हैं।

विशेषता–(1) मागधी में 'र' का 'ल' हो जाता है, जैसे–पुरुषः > पुलिशः। (2) 'ष' औ 'श' का 'स' हो जाता है, जैसे–सप्त > शप्त। (3) शब्द के मध्यगत 'च्छ' का 'श्च' हो जाता है, जैसे–गच्छति > गश्चदि। (4) प्रथमा एकवचन में (:) का ए हो जाता है, जैसे–देवः > देवे।

4. अर्द्ध-मागधी प्राकृत–इसका क्षेत्र मागधी और शौरसेनी के मध्य में है। यह प्राचीन कोशल के समीपवर्ती क्षेत्र की भाषा थी। इसमें मागधी और शौरसेनी के गुणों के विद्यमान होने के कारण इसे 'अर्द्धमागधी' कहा जाता है। इसको ऋषि-भाषा और आर्यभाषा भी कहते है। भगवान् महावीर के समस्त धर्मोपदेश की भाषा यही हैं जैन साहित्य इसमें प्रचुर मात्रा में मिलता है। इसमें गद्य तथा पद्य दोनों प्रकार का साहित्य है। आचार्य विश्वनाथ ने इसे 'साहित्यदर्पण में चेट राजपूत्र और सेठों की भाषा बतायी है। अश्वघोष के नाटकों 'मुद्राराक्षस'

तथा 'प्रबोधचन्द्रोदय' में इसका (अर्द्धमागधी) का प्रयोग मिलता है।

विशेषतायें–1. दन्त्य की मूर्धन्य होता है। स्थित > ठिय। 2. श, ष् को स होता है। श्रावक > सावग। 3. संयुक्त व्यञ्जनों में प्रायः स्वरभक्ति के द्वारा विच्छेद होता है। कृष्ण > कसिन, स्नान > सिनान। 4. इसके गद्य और पद्य में भेद है। गद्य में मागधी के तुल्य प्रथमा ए0व0 में 'ए' और पद्य में 'औ' के तुल्य 'ओ' होता है।

5. पैशाची–पैशाची भाषा का क्षेत्र पश्चिमोत्तर भारत तथा अफगानिस्तान का क्षेत्र था। पैशाची को पैशाचिकी, भूतभाषा, भूतभाषित आदि भी कहते हैं। गुणाढ्य की अति प्रसिद्ध रचना 'बृहत्कथा' पैशाची प्राकृत में थी। सम्प्रति पैशाची का साहित्य नगण्य है। हेमचन्द्र रचित 'कुमारपालचरित' और काव्यानुशासन में एवं 'हम्मीर मदमर्दन नाटक में इसका प्रयोग मिलता है। नाटकों में राक्षस, पिशाच निम्नकोटिक पात्र इसी का प्रयोग करते हैं।

विशेषतायें–1. वर्ग के तृतीय वर्ग को प्रथम वर्ण होता है नगर > नकर, तडाग > तटाक। 2. वर्ग के चतुर्य को द्वितीय वर्ण हो जाता है—निर्झर > निच्छर, मेघः > मेरवो। 3. पैशाची में पंचम वर्ण केवल 'न' है। 4. 'ज्ञ', 'न्य' 'ण्य' को ञ्ञ हो जाता है—अन्य > अञ्ञ, पुण्य > पुञ्ञ, प्रज्ञा > पञ्ञा। 5. 'ष्' को 'श्' या 'स्' हो जाता है जैसे—तिष्ठति 'तिश्तदि' 'विषम' > विसमो आदि।

प्राकृत-भाषाओं की सामान्य विशेषतायें–ऊपर सभी प्राकृत भाषा भेदों की सामान्य विशेषताओं को दर्शाया जा चुका है। सम्प्रति सभी प्राकृतों की सामान्य विशेषताओं को संक्षिप्त रूप से प्रदर्शित किया जा रहा है। 1. प्राकृत भी संस्कृत के सामन शिलष्ट योगात्मक भाषा है परन्तु यह संयोगात्मक से वियोगात्मक की ओर बढ़ रही है। 2. इसमें संस्कृत भाषा को सरल बनाया गया है। 3. इसमें शब्दरूपों और धातुरूपों की संख्या कम हो गयी है। 4. अस्पष्टता के निवारण हेतु परसर्गों (कारक-चिह्नों) आदि की सृष्टि की गयी है। चतुर्थी विभक्ति का अभाव हो गया है और प्रथमा तथा द्वितीया विभक्ति में बहुवचन लुप्त हो गये हैं। 5. लङ लिट एवं लुङ लकारों, द्विवचन तथा आत्मनेपद का अभाव हो गया है। कुछ प्राचीन ध्वनियों—'ए' 'ओ' का तथा व्यञ्जनों में य, स, ष का अभाव हो गया है। साधारणतः शब्द के अन्तिम व्यञ्जन का लोप हो जाता है। धातुओं के रूपों में काफी परिवर्तन होता है। 6. तद्भव शब्द की अधिकता तथा तत्सम शब्दों की स्वल्पता हो गयी है। 7. स्वरसम्बन्धी मुख्य परिवर्तन ये हो गये हैं—(क) ऋ को 'अ' इ या उ हो गया है। (ख) ऐ को ए औ को 'ओ' हो गया है। 7. सम्प्रसारण होकर य को इ और व् को उ हो गया है। 8. मध्यगत वर्णों में मुख्य अन्तर ये हैं—(क) मध्यगत क, त, प का लोप हो जाता है या उन्हें क्रमशः ग,ब,द हो जाता है। (ख) स, ष, श, को 'स' और मागधी में स हो जाता है।

3. अपभ्रंश (परकालीन प्राकृत, तृतीय प्राकृत)–मध्यकालीन आर्य-भाषा के तृतीय रूप को अपभ्रंश के नाम से जाना जाता है। अपभ्रंश शब्द का अर्थ—भ्रष्ट, विगड़ा, अशुद्ध प्रयोगों से था। इस शब्द का प्रयोग पहले-पहल महाभाष्य में मिलता है— "एकैकस्य शब्दस्य बहवो अपभ्रंशाः तद्यथा गौरित्यस्य शब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः" महाभाष्य के बाद भर्तृहरि, भामह, दण्डी आदि ने भ्रष्ट शब्दों के लिये 'अपभ्रंश शब्द का प्रयोग किया है। भाषा के अर्थ में अपभ्रंश का प्रयोग भामह के काव्यालङ्कार तथा वैयाकरण चंड के प्राकृतलक्षणम् में पाया जाता है। अपभ्रंश के उदाहरण भरत के नाट्यशास्त्र कालिदास के विक्रमोर्वशीय में मिलते हैं (अङ्क 4)।

इस सन्दर्भ में यह ध्यातव्य है कि अपभ्रंश को देशभाषा, 'देसी' 'अपभ्रंष' अपि भी कहा गया है।

अपभ्रंश के भेद–'विष्णुधर्मोन्तर पुराण' में अपभ्रंश के अनन्त भेद माने गये हैं। काव्यालङ्कार के टीकाकार 'नमिसाधु' ने अपभ्रंश के तीन भेद गिनायें हैं—1. उपनागर, 2. आमीर, 3. ग्राम्य। प्राकृत-सर्वस्व के रचनाकार मार्कण्डेय ने अपभ्रंश के तीन भेद गिनाये है—1. नागर, 2. उपनागर, 3. ब्राचड। इसमें नागर का सम्बन्ध दोनों के मध्य से बताया गया है।

'डॉ0 जी0बी0 तगारे' ने अपभ्रंश के तीन भेदों को माना है—1. दक्षिणी, 2. पश्चिमी, 3. पूर्वी। याकोवी ने अपभ्रंश को चार भेदों में विभाजित किया है—1. पश्चिमी, 2. पूर्वी, 3. उत्तरी, 4. दक्षिणी।

साधारणतः विद्वानों का यह मत है कि प्राचीन पाँच प्राकृतों से पाँच अपभ्रंशों का विकास हुआ होगा। इनसे ही आधुनिक आर्य-भाषायें विकसित हुयी। प्राचीन प्राकृत और वर्तमान भारतीय भाषाओं को मिलाने वाली कड़ी वस्तुतः अपभ्रंश भाषायें हैं।

अपभ्रंश-साहित्य–अपभ्रंश का साहित्य समृद्ध है। इसके उल्लेखनीय साहित्य (रचनायें) निम्नाङ्कित है—

1. रविषेणाचार्य विरचित–'पउम चरिउ' 2. पुष्पदन्तकृत—(क) महापुराण, (आदिपुराण) तथा जसहर-चरिउ (यथोधरचरित), 3. विद्यापति रचित कीर्ति-लता, 4. अहहमाण (अब्दुर रहमान) कृत सन्देशरासक'। रइधू का करकंड चरिड, सरहरचित (दोहाकोश) रामसिंहरचित 'पाहुडदोहा'।

अपभ्रंश का क्षेत्र तथा बोलने वाले–अपभ्रंश भाषा किस क्षेत्र में बोली जाती थी, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। अधिसंख्य विद्वानों का यह मानना है कि अपभ्रंश का सर्वप्रथम विकास पश्चिमोत्तर भारत में हुआ। डॉ0 बाबूराम सक्सेना का विचार

है कि शौरसेनी अपभ्रंश गूजरों और अभीरों की भाषा थी। राजशेखर के मतानुसार अपभ्रंश मरुभूमि, टक्क तथा मायादेश के निवासियों की भाषा थी।

अपभ्रंश भाषा की विशेषतायें–अपभ्रंश भाषा की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि वह श्लिष्ट योगात्मक से वियोगात्मक हो गयी। उसकी अन्य प्रमुख विशेषतायें निम्नाङ्कित हैं—

(क) ध्वनि सम्बन्धी विशेषतायें–1. सामान्यतः प्राकृत की ध्वनियों का ही प्रयोग अपभ्रंश में होता था। 2. 'ऋ' का लिखित रूप तो था परन्तु स्वर की तरह उसके उच्चारण का अभाव हो गया। श, ष, स के स्थान पर केवल 'स' का प्रयोग होने लगा। इसके विपरीत मागधी अपभ्रंश में तीनों के स्थान पर 'श' पाया जाता है। 3. दीर्घ अन्तिम स्वर का ह्रस्व अथवा लोप हो जाता है, जैसे—प्रिया > प्रिय। 4. अपभ्रंश के शब्दों में अन्त में 'उ' लगाने की प्रवृत्ति बढ़ गयी, जैसे अङ्गु, जगुः पुन्तु आदि। 5. श 'ष' का प्रायः लोप हो गया। 6. मध्यगत प्रथम और द्वितीय वर्ण क्रमशः तृतीय और चतुर्थ वर्ण हो जाते हैं, जैसे— शपथ > सबध, कथितं > कधिदुं। 7. शब्द के प्रारम्भ में आने वाले 'य' के स्थान पर 'ज' हो जाता है, जैसे—युगल > जुग, याति > जाति। 8. 'व' के स्थान 'ब' पाया जाता है, जैसे—वचन > बचन। 9. अपभ्रंश में 'ड', 'ग', 'त', 'र' के स्थान पर 'ल' हो जाता है। 10. दो व्यञ्जनों के मिलने पर एक व्यञ्जन का लोप हो जाता है। 11. अपूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ हो जाता है, जैसे—सप्त > सात, अद्य > आज। 12. अपभ्रंश भाषा में 'म' का 'व', 'क्ष' का 'क्ख' या 'च्छ' तथा 'स्म' का 'म्ह' हो जाता है। (यथा-कमल > कवॅल, पक्षी > पक्खी या पच्छी, अस्मै > अम्ह। 13. अकारान्त पुल्लिङ्ग शब्दों की अधिकता है। 14. अपभ्रंश में व्यञ्जनों का विपर्यय भी हो जाता है, जैसे—दीर्घ > दीहर। 15. बलाघात के अभाव में आद्य स्वरों का लोप हो जाता है, जैसे—अभ्यन्तर > भीतर।

(ख) पदरचना सम्बन्धी विशेषता–1. अपभ्रंश का संस्कृत से सम्बन्ध प्रायः टूट गया है। 2. अपभ्रंश में वियोगात्मकता अधिक हो गयी है। 3. अपभ्रंश में तीन लिङ्गों में नपुसङ्ग लिङ्ग लुप्त है।

आधुनिक भारतीय आर्य भाषा (1000 ई0 से वर्तमान समय तक)–आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं का कार्य 1000 ई0 से लेकर वर्तमान काल तक माना जाता है।

आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं का विकास मध्यकालीन अपभ्रंश भाषाओं से हुआ है। यह विकास 1000 ई0 के बाद से क्रमिक गति से सम्पन्न हुआ है। आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं में हिन्दी, पंजाबी, गुजराती, बंगला, असमी (असमिया), उड़िया, मराठी आदि सम्मिलित हैं। राजस्थानी और बिहारी भी हिन्दी की भाषायें हैं। प्राचीन पाँच

प्राकृतों से पाँच अपभ्रशों का विकास माना जाता है। इन पाँच अपभ्रशों के साथ ही ब्राचड तथा खस इन दो अपभ्रंशों को और लिया जाता है। मार्कडेण्य के प्राकृतसर्वस्व में अपभ्रंश के अनेक भेद गिनाये गये हैं जिनमें ये भी हैं। इस प्रकार सात अपभ्रंशों से आधुनिक भारतीय भाषाओं का विकास माना गया है—इसका विवरण निम्नाङ्कित है—

अपभ्रंश नाम	विकसित आधुनिक भाषायें
1. शौरसेनी	(क) पश्चिमी हिन्दी (ख) राजस्थानी (ग) गुजराती।
2. महाराष्ट्री	मराठी।
3. मागधी	(क) बिहारी (ख) बंगला (ग) उड़िया (घ) असमी)।
4. अर्धमागधी	पूर्वी हिन्दी।
5. पैशाची	लहँदा।
6. ब्राचड	(क) सिन्धी, (ख) पंजाबी। (शौरसेनी से प्रभावित)
7. खस	पहाड़ी (शौरसेनी से प्रभावित)।

आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं का संक्षिप्त परिचय–संक्षिप्त परिचय में भाषाओं विकास (उत्पत्ति) तथा उनके बोले जाने के क्षेत्र का भी उल्लेख किया गया है—

पश्चिमी हिन्दी–इसका विकास शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ है। इसकी प्रमुख पाँच बोलियाँ ये हैं—(क) खड़ी बोली (ख) ब्रज भाषा (ग) बांगरू (घ) कन्नौजी (ङ) बुन्देली।

(क) खड़ी बोली–यह उत्तर-प्रदेश के पश्चिमी जिलों में मेरठ, सहारनपुर, मुजफ्फरनगर देहरादून, बिजनौर, रामपुर आदि में बोली जाती है। राष्ट्रभाषा हिन्दी इसी पर आश्रित है। लिपि देवनागरी है। सम्प्रति इसमें उच्च कोटि के साहित्य की रचना हो रही है। **(ख) ब्रजभाषा**–यह उत्तर-प्रदेश के मथुरा, आगरा, अलीगढ़ भूखण्डों की भाषा है। ब्रजभाषा का महत्त्व साहित्यिक दृष्टि से बड़ा है। सूरदास, नन्ददास, मीरा आदि की रचनायें इसमें विराजमान हैं। **(ग) बांगरू**–यह दिल्ली, करनाल, रोहतक हिसार, आदि क्षेत्रों में बोली जाती है। 'हरियाणी', 'जाटू' आदि इसके अन्य नाम है। इस पर राजस्थानी और पंजाबी भाषा का भी प्रभाव है। सचमुच यह खड़ी बोली की एक विभाषा है। **(घ) कन्नौजी**–अवधी और ब्रज के मध्य इसका क्षेत्र है। यह मुख्य रूप से फर्रूखाबाद में बोली जाती है। परन्तु यह पीलीभीत, शाहजहाँपुर, हरदोई, इटावा कानपुर के पश्चिमी भागों में भी बोली जाती है। यह एक प्रकार से ब्रज भाषा की विभाषा है। इसमें मतिराम, भूषण आदि की रचनायें है। **(ङ) बुन्देली**–यह झांसी, जालौन, हमीरपुर, बाँदा, ग्वालियर, भोपाल, सागर आदि में बोली जाती है। बुन्देली और ब्रजभाषा में अत्यधिक साम्य है।

2. राजस्थानी–इसका विकास शौरसेनी के नागर अपभ्रंश से हुआ है। इसका प्रमुख क्षेत्र राजस्थान है। इसकी लिपि नागरी और महाजनी है। इसकी चार प्रमुख बोलियाँ हैं—(क) मारवाड़ी (ख) जयपुरी (ग) मालवी (घ) मेवाती।

(क) मारवाड़ी–यह पश्चिमी राजस्थान की बोली है। इसका क्षेत्र है जोधपुर, उदयपुर, बीकानेर एवं जैसलमेर। **(ख) जयपुरी**–यह राजस्थान की पूर्वी भाग में बोली जाती है। इसका क्षेत्र है—जयपुर, कोटा तथा बूंदी। **(ग) मालवी**–यह राजस्थान की दक्षिण-पूर्वी भाग की भाषा है इसका केन्द्र इन्दौर है। **(घ) मेवाती**–यह उत्तरी राजस्थान के अलवर तथा हरियाणा के गुणगाँव जिले के कुछ भागों में बोली जाती है। इस पर ब्रज भाषा का प्रभाव है।

3. गुजराती–शौरसेनी अपभ्रंश के नागर रूप से इसका विकास हुआ है। यह गुजरात प्रान्त की राजभाषा है। राजस्थानी से इसकी बहुत समता है। इसकी स्वतन्त्र लिपि है जो देवनागरी से विकसित हुयी है। इस भाषा में अरबी, फारसी आदि के तत्त्व मिलते हैं।

4. पूर्वी हिन्दी–यह अर्ध मागधी अपभ्रंश से विकसित हुयी है। इसकी तीन बोलियाँ ये हैं—(क) अवधी (ख) बघेली (ग) छत्तीसगढ़ी।

(क) अवधी–यह लखनऊ, फैजाबाद, सीतापुर, रायबरेली, गोण्डा, बहराइच आदि जिलों तथा कानपुर, इलाहाबाद, मिर्जापुर आदि के कुछ भागों में बोली जाती है। तुलसीदास का 'मानस' और जायसी का 'पद्मावत' इसी में है। **(ख) बघेली**–यह बुन्देलखण्ड की बोली है। इसका मुख्य क्षेत्र रीवां है। **(ग) छत्तीसगढ़ी**–यह रायपुर, विलासपुर आदि जिलों में बोली जाती है।

5. बिहारी (मागधी)–यह मागधी अपभ्रंश से निकली है। वस्तुतः बिहारी नाम की कोई भाषा नहीं है। बिहार प्रान्त में बोली जाने वाली भाषाओं के समूह का नाम है। इसकी तीन बोलियाँ है—(क) भोजपुरी (ख) मैथिली (ग) मगही।

(क) भोजपुरी–शाहाबाद जिले का भोजपुर गाँव भोजपुरी-नाम का आधार है। इसका क्षेत्र बहुत बड़ा है। उत्तर-प्रदेश के वाराणसी, गाजीपुर, बलिया, जौनपुर, मिर्जापुर, गोरखपुर, देवरिया, बस्ती, आजमगढ़ के अतिरिक्त भोजपुर (शाहाबाद) राँची, सरान, चम्पारन आदि जनपद इसके क्षेत्र है। इसका कोई स्वतन्त्र साहित्य नहीं है। कबीर, धर्मदास आदि ने इसका प्रयोग अपने पदों में किया है। **(ख) मैथिली**–यह मिथिला क्षेत्र की भाषा है। यह दरभंगा, पूर्णिया, सहरसा, और मुजफ्फरपुर के पूर्वी भाग में बोली जाती है। बिहारी भाषाओं में सबसे अधिक साहित्य इसी में है। विद्यापति आदि की रचनायें इसी में हैं। **(ग) मगही**–यह बिहार के पटना, गया, हजारीबाग एवं भागलपुर के पूर्वी भागों में बोली जाती है। इसमें उत्तम साहित्य नगण्य है।

6. बंगाली (बंगला)–यह बंगाल प्रान्त की भाषा है। इसका विकास मागधी अपभ्रंश के पूर्वी रूप से हुआ है। इसमें संस्कृत के शब्दों की बहुलता है। यह साहित्यिक दृष्टि से यह अत्यन्त समृद्ध भाषाा है। इसमें कृत्तिवास, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, बंकिमचन्द्र, शरदचन्द्र आदि की रचनायें निहित हैं। इसकी लिपि अलग है जो देवनागरी से विकसित हुयी है। इस भाषा का प्रामाणिक भाषाशास्त्रीय अध्ययन डॉ0 सुनीतिकुमार चटर्जी ने किया है।

7. उड़िया–यह उड़िया प्रान्त की भाषा है। ओड़ (उड्ड) जाति की भाषा से प्रभावित होने के कारण इसे आडी तथा उत्कल जाति की भाषा होने से उत्कली भी कहते हैं। इसकी लिपि भिन्न है, जो प्राचीन देवनागरी से विकसित हुयी है। इस पर बंगाली और तेलगू भाषा का अधिक प्रभाव है। इसमें-संस्कृत भाषा के प्रचुर शब्द हैं।

8. असमी–यह असम प्रान्त की भाषा है। इसको असमिया, आसामी अथवा असामी भी कहते हैं। इसका बंगला से अधिक साम्य है। इसकी लिपि बंगला की लिपि के समान है केवल कुछ भिन्नतायें हैं। इस पर तिब्बती, वर्मी, नागा आदि भाषाओं का प्रभाव है। इसके प्रसिद्ध कवियों में शंकरदेव, माधवराम आदि हैं।

9. मराठी–यह महाराष्ट्र की भाषा है। यह महाराष्ट्रीय अपभ्रंश से विकसित हुयी है। मराठी में फारसी के शब्द अधिक हैं इसकी लिपि देवनागरी है। इस भाषा का साहित्य समृद्ध और उच्चकोटिक है इसमें सन्त ज्ञानेश्वर की रचनायें विराजमान हैं। इसकी चार बोलियाँ मुख्य हैं—(क) देशी (ख) कोंकणी (ग) नागपुरी (घ) बरारी।

(क) देशी–यह महाराष्ट्र के दक्षिणी भाग में बोली जाती है इसको दक्षिणी भी कहते हैं। **(ख) कोंकणी**–यह समुद्री किनारे की बोली है। **(ग) नागपुरी**–नागपुर के समीप की बोली हैं। **(घ) बरारी**–यह बरार की बोली है। इसमें भीली, तेलगू के शब्द अधिक है।

10. लहँदा (लहँदी)–इसका विकास पैशाची अपभ्रंश से हुआ है। यह पंजाब के पश्चिमी भाग तथा पश्चिमोत्तर प्रदेश के पूर्वीभाग की भाषा है। पश्चिमोत्तर प्रदेश के पश्चिमी भाग में 'पश्तो' भाषा बोली जाती है। उससे भिन्नता के लिये इसे 'हिन्दकी' भी कहते हैं। इसकी लिपि लंडा है। यह उर्दू और गुरूमुखी में भी सिखी जाती है। इसकी चार बोलियाँ मुख्य हैं—(क) केन्द्रीय बोली (ख) दक्षिणी (मुलतानी) (ग) उत्तर पूर्वी (पोठवारी) (घ) उत्तर पश्चिमी (घन्नी)। इस भाषा में सिक्खों का वार्ता-साहित्य, जनमसाखी और लोकगीत हैं। इसका क्षेत्र अब पाकिस्तान में है।

11. सिन्धी–सिन्धी भाषा का विकास ब्राचड अपभ्रंश से हुआ है। यह पहले सिन्ध प्रान्त की भाषा थी। भारत-पाक विभाजन के बाद इसके बोलने वाले पंजाब, दिल्ली, बम्बई (मुम्बई) आदि में बस गये हैं। इसकी लिपि 'लंडा' है। यह अरबी और गुरूमुखी लिपि में लिखी जाती है। इस भाषा में विदेशी शब्द अधिक है। इसकी पाँच

बोलियाँ ये हैं—(क) विचौली (ख) सिरैली (ग) लाड़ी (घ) घरेली (ङ) कच्छी।

12. पंजाबी–पंजाबी भाषा का विकास ब्राचड अपभ्रंश से हुआ है। यह पंजाब प्रान्त की भाषा है। इस पर 'दरद' भाषा का प्रभाव है। इसकी लिपि गुरुमुखी है। इसमें सिक्ख-साहित्य भरा है। इसमें संस्कृत और प्राकृत के शब्द अधिक हैं।

13. पहाड़ी–इसका विकास 'खस' अपभ्रंश से हुआ है। कुछ विद्वान् इसका विकास शौरसेनी अपभ्रंश से मानते हैं। इसकी लिपि नागरी है और यह हिमालय के निचले भाग में बोली जाती है। इसके तीन भाषा-वर्ग है—(क) पश्चिमी (ख) मध्य (ग) पूर्वी।

(क) पश्चिमी–इसमें 30 बोलियाँ हैं उनमें शिरमौरी, चंबाली, कुलूई आदि बोलियाँ मुख्य हैं। (ख) **मध्य**–मध्य पहाड़ी के दो भाग हैं—1. गढ़वाल की गढ़वाली, 2. कुमायूँ की कुमाँयूनी। (ग) **पूर्वी**–इसमें नेपाली है। नेपाली को पर्वतीया खसकुरा और गोरखावली। नेपाली भाषा नेपाल की राजभाषा है।

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की सामान्य विशेषतायें–1. ये भाषायें संयोगात्मक से पूर्णतः वियोगात्मक हो गयी हैं। 2. यद्यपि प्राकृत और अपभ्रंश में विद्यमान ध्वनियाँ प्रचलित रहीं पर अब उसमें परिवर्तन हो गया है। 3. ध्वनि-विचार के प्रसङ्ग में यह कहना प्रासङ्गिक है कि (क) 'ष' का शुद्ध उच्चारण नहीं होता, किन्तु लिखने में प्रयोग होता है। अर्द्धमागधी से विकसित भाषाओं में 'ष' 'स' में कोई भेद नहीं होता। (ख) 'ऋ' का लिखित रूप 'ऋ' है परन्तु 'ऋ' उच्चरित रूप 'रि' है। दोनों में भेद जैसे मिट गया है। महाराष्ट्र उड़ीसा में ऋ का उच्चारण 'रू' हो जाता है। (ग) 'ज्ञ' का उच्चारण ग्यँ, 'ज्यँ और 'द्यँ' होता है। (घ) संयुक्त अक्षरों में 'य्' और 'ण' का दूसरे वर्णों से संयोग होने पर उच्चारण नहीं होता। जैसे—दण्ड या चञ्चल का उच्चारण क्रमशः दंड या चंचल होता है। जो अनुस्वार से भिन्न नहीं है। (ङ) विदेशी ॲ क़, ख़, ग़ ध्वनियाँ वर्तमान भाषाओं के प्रविष्ट हो गयी है, परन्तु इनका शुद्ध उच्चारण नहीं किया जाता। 4. वर्तमान भाषाओं में केवल गुजराती, मराठी में तीन लिङ्ग हैं, शेष में दो लिङ्ग है या (पुल्लिङ्ग-स्त्रीलिङ्ग)। तीन वचन के स्थान पर एक वचन, बहुवचन रह गया है। 5. बलाघात स्वर मुख्य हो गया है। बलाघातरहित अन्तिम 'अ' का लोप हो जाता है जैसे—राम्, श्याम्। बलाघात के अभाव में आदि स्वरों का लोप हो जाता है। जैसे—अभ्यन्तर→भीतर, उपरि→पर। 6. संयुक्त व्यञ्जनों में से एक का लोप हो जाता है और पूर्व ह्रस्व का दीर्घ हो जाता है। जैसे—सप्त→सात, अद्य→आज, कर्म→काम, निद्रा→नींद। 7. यह आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह कि उनमें अंग्रेजी, अरबी फारसी के शब्द प्रविष्ट हो गये हैं जबकि उनका (अरबी आदि का) अपभ्रंश-काल में प्रवेश नहीं था। उनका शब्द—भण्डार विशुद्ध रूप से देशी था।

❑

